THE

KASHI SANSKRIT SERIES

218

ĀTMĀNĀTMAVIVEKA-ĀTMABODHA

OF

ŚRĪ ŚAṄKARĀCARYA

Edited With The

'Vimalā' Sanskrit, Hindī Commentaries and Notes

By

Dr. JAGADĪŚA CANDRA MIŚRA

M. A. (Double), Ph. D.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Book-Sellers

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139

Jadau Bhawan K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

समर्पणम्

धत्से चाम्ब ! सरस्वतीति प्रथितं नामापि त्वत्सेवनं
मोहध्वान्तनिवारणेन विमलं स्वान्तं करोत्याशु मे ।
ग्रन्थग्रन्थिविमोचनं सुमनसा सञ्जायते ध्यानतो
यस्यास्तत्करयोः समर्पणमिदं कृत्वा प्रसीदाम्यहम् ॥

त्वदीयः पुत्रो
जगदीशः

भूमिका

आचार्य शङ्कर : एक ऐतिहासिक अध्ययन

आचार्य शङ्कर अपने युग के युवा द्रष्टा, क्रान्तिकारी विचारक, धर्म-संस्थापक, रहस्यदर्शी ऋषि और जीवन सर्जक साधु थे। वैसे तो धर्म, अध्यात्म व साधना में ही उनका जीवन-प्रवाह था, लेकिन कला, साहित्य और दर्शन में भी वे अनूठे और अद्वितीय थे।

आचार्य शङ्कर निश्चित रूप से उस चौराहे पर के सन्त हैं, जहाँ पीछे से अवैदिक बौद्ध-धर्म की परम्परा आती है, बायें से इस्लाम धर्म का राज-पथ, जहाँ पीछे से सार्वजनीन आध्यामिक सत्य की क्षीण पगडंडी मिलती है और दायें से मुमुर्षु, विध्वस्त और विच्छिन्न वैदिक हिन्दू-धर्म की राह। आचार्य शङ्कर के सम्पूर्ण मूर्ति को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी पीठ अवैदिक बौद्ध-धर्म और इस्लाम की ओर है और वे पूरी शक्ति, सच्चाई और गति के साथ विध्वस्त हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान की ओर उन्मुख हैं।

प्राकट्य-काल

आचार्य शङ्कर का प्राकट्य देवमानवों के बीच धर्माचार्य सन्त के रूप में वैशाख शुक्ल तृतीया वि सं ६८६ में[१] हुआ और उनका पार्थिव शरीर अत्यन्त अल्प समय (३२ वर्ष की आयु) में ही इस संसार से तिरोहित हो गया। आध्यात्मिक युग के धर्माकाश में इनका व्यक्तित्व एक दिव्य नक्षत्र की तरह प्रोद्भासित हुआ, जो आलोक में अपूर्व और अवधि में अल्पायु था। इस्लाम का सबल एवं सस्पर्ध अभियान की लहर भारतीय आध्यात्मिकता के तट से इस समय टकरा ही नहीं रही थी अपितु पूरे वेग से समस्त देश में फैल रही थी। एक विशाल एवं गहरे उद्वेलन में भारतीय धार्मिक जीवन विक्षुब्ध, अस्त-व्यस्त और भावोच्छ्वसित-तरंगायित था। एक ओर अवैदिक बौद्धधर्म की निर्मूल परम्परा, दूसरी ओर इस्लामधर्म की प्रभविष्णुता से आशंका की अस्पष्ट कुहेलिका और इन दोनों के बीच छटपटाती भारतीय वैदिक हिन्दूधर्म की आत्मा—

---

१. विचारकों में आचार्य शङ्कर के जन्म के वर्ष और तिथि के सम्बन्ध में अनेक धारणाएँ प्रचलित हैं। दशनामी संन्यासी-सम्प्रदाय के अधिक मठों में वैशाख शुक्ल पञ्चमी सं ७८८ को आचार्य शङ्कर की जन्मतिथि मनाई जाती है।

युगपुरुष शङ्कर इसी संगम पर धार्मिक परम्परा के पुष्प और आर्य सनातन भविष्य के बीज थे।

आचार्य शङ्कर हिन्दूधर्म की समग्रता को जानने, समझने और प्रयोग करने के जीवन्त प्रतीक थे। आचार्य शङ्कर के आविर्भाव, उनके जीवन, उनकी साधना तथा शिक्षा ने हिन्दूधर्म के भीतर आसन्न कार्य के योग्य शक्ति-संक्रमण किया तथा वैदिक धर्म को अनन्त युगों का स्थायित्व प्रदान कर सुदृढ़भित्ति के ऊपर सुप्रतिष्ठित भी कर दिया। वे हिन्दूधर्म के गौरव गायक थे, दर्शन के सूक्ष्म द्रष्टा थे और धार्मिक परम्परा के कुशल सारथी थे। धर्म की धधकती ज्वाला लेकर, धर्मगुरु की क्रान्तिकारी नीति का सक्रिय पक्ष बनकर तो वे हमारे सामने प्रस्तुत नहीं हो पाते, किन्तु, धार्मिक पुनरुत्थान के लिए जो धर्म, नीति और आध्यात्मिक चेतना आवश्यक है, उसके वे अवश्य वाहक थे। धर्मपरम्परा के सृजन की आन्तरिक क्षमता का पवित्र एवं व्यापक उद्बोधनभाव उनके चिन्तन में भरा पड़ा था। उन ३२ वर्षीय युवा संन्यासी के हृदय में वैदिकधर्म के प्रति क्रियाशील उत्कट स्नेह के पीछे उनकी प्रचण्ड बौद्धिकता ही सक्रिय नहीं अपितु आध्यात्मिक हृदय की सप्राण आस्था भी थी।

जन्म-स्थान

आचार्य शङ्कर केवल साधक ही नहीं, सिद्धाचार्य भी थे। देव-कार्य-साधन हेतु उन्होंने जाग्रत चैतन्य रूप से, देवांश में भारत के सुदूर दक्षिण केरल प्रदेश के आलवाई नदी तट पर अवस्थित कालरी ग्राम में नामपुद्रि अथवा नामपुरी नामक उच्च ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। यही नाम-पुद्रि आधुनिक नम्बूदरीपाद ब्राह्मण हैं। शङ्कर के पितामह का नाम विद्याधिराज या विद्याधर था। इनके पिता शास्त्र-सेवी शिव-गुरु थे तथा माता का नाम सती अथवा विशिष्टा देवी था। ये प्रारम्भ में 'पन्निपुर' ग्राम के निवासी थे जिसका उल्लेख 'शशल' ग्राम के नाम से भी मिलता है। पीछे वे लोग कालरी में आकर बस गये थे। इनके जन्मस्थान के विषय में एक अन्य भी मत है। इस मत के अनुसार इनका जन्म तमिल प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थ क्षेत्र 'चिदम्बरम्' में हुआ था किन्तु, अनेक कारणों से इतिहासकारों को यह मत मान्य नहीं है। अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर अब आचार्य शङ्कर का जन्मस्थान 'कालटी' ही सिद्ध हो चुका है।

वंश-परिचय

इनके पिता शिवगुरु एक शास्त्र-सेवी धर्मनिष्ठ विद्वान थे। वे अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे। अध्ययन-अध्यापन में ही अपना समग्र जीवन

व्यतीत करने की इनकी उत्कट अभिलाषा थी। पिता इन्हें एक सद्‌गृहस्थ के रूप में देखना चाहते थे। अत एव उन्होंने इनकी इच्छा के विरुद्ध वहीं के 'मघपण्डित' नामक एक विद्वान ब्राह्मण की कन्या से विवाह कर दिया। कालान्तर में पिता के निधन के पश्चात् सम्पूर्ण परिवार के निर्वाह का दायित्व शिवगुरु पर आ गया। इनके एक छोटी सी देवोत्तर सम्पत्ति थी। इनकी सीमित आवश्यकताओं की पूर्त्ति इसीसे हो जाती थी।

अब तक शिवगुरु सन्तानहीन थे एकाएक उनके चित्त में पुत्र-मुख देखने की लालसा जाग उठी। अन्ततः द्विज-दम्पत्ति ने वृष पर्वत के देवता भगवान चन्द्रमौलीश्वर शिव की तपस्या को लक्ष्यपूर्त्ति का साधन मान कर उन्हीं की साधना में रम गये। तपस्यारत शिवगुरु ने एक रात स्वप्न में देखा कि ज्योतिर्मय शरीर से भगवान आशुतोष शङ्कर उनसे कह रहे हैं—"मैं तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हूँ, तुम क्या चाहते हो माँगो। शिवगुरु ने भगवान शिव के चरणों में प्रणाम करते हुए विनत भाव से कहा—'प्रभो! मुझे एक दीर्घायु सर्वज्ञ पुत्र दीजिए।' भगवान शिव ने हंसते हुए कहा—'सर्वज्ञ पुत्र चाहो तो वह अल्पायु होगा, दीर्घायु पुत्र चाहो तो वह अल्पज्ञ होगा।' अब तुम्हीं बताओ क्या चाहते हो? धर्मज्ञ शिवगुरु ने अल्पायु किन्तु सर्वज्ञ पुत्र प्राप्ति की कामना प्रकट की। इस पर भगवान शिव ने 'तथास्तु' कहा और द्विजदम्पति को घर लौट जाने की आज्ञा देकर स्वयं तिरोहित हो[1] गये।" तदनुसार वैशाख शुक्ल तृतीया संवत् ६८६ को भगवान शिव स्वयं आचार्य शङ्कर के रूप में विशिष्टा देवी के गर्भ से अवतीर्ण हुए।

बाल्य-काल

आचार्य शङ्कर एक प्रतिभा-सम्पन्न शिशु थे। बचपन से ही इनकी अलौकिक प्रतिभा एवं मेधा को देखकर शिवगुरु ने अपने मन में निश्चय किया कि पाँच वर्ष में ही पुत्र का उपनयन संस्कार कर उसे गुरु-कुल में विद्याध्ययन के लिए भेज देंगें। किन्तु, विधाता को यह स्वीकार न हुआ। थोड़े ही दिनों में शिवगुरु शिव पद में विलीन हो गये। शोकसन्तप्त विशिष्टा देवी पति का दाह-संस्कार सम्पन्न कर अपने एकमात्र शिशु को छाती से चिपकाकर पिता के

---

१. आनन्द गिरि ने अपने 'शंकरविजय' में लिखा है कि विशिष्टा देवी के पति जब संन्यास लेकर गृहत्याग कर दिया तो उस देवी ने शंकर के चरणों में अपना मन लगाया। उनकी सेवा से संतुष्ट होकर भगवान शंकर ने उन्हें दर्शन दिया तथा उन्हीं के आशीर्वाद से आचार्य शङ्कर का दैवी जन्म हुआ। (परन्तु यह सनातनविरुद्ध परम्परा है।)

आश्रय में चली गयी। किन्तु दिवंगत पति की इच्छा वह भूली नहीं थी। शिशु के पाँच वर्ष पूर्ण होते ही वे पुत्र के साथ अपने घर लौट आयीं।

शिक्षा-काल

पंचम वर्ष में ही उपनयन संस्कार करा के माँ ने पुत्र को गुरु-कुल भेज दिया। अत्यल्प काल में ही शिष्य की विलक्षण प्रतिभा और विद्यानुराग देखकर गुरु मुग्ध हो गये। अपनी अलौकिक मेधा और विशुद्ध चरित्र से बालक शंकर ने थोड़े ही दिनों में आश्रम में सबों को चमत्कृत कर दिया। उन्हें जो ग्रन्थ पढ़ाया जाता था उसे तो वे अनायास सीख ही लेते थे, साथ ही साथियों के पास बैठकर उनके पाठों को भी अभ्यास कर लेते थे। जो कुछ सुनते थे उन्हें कण्ठाग्र हो जाता था। गुरु के आश्रम में दो वर्ष के भीतर ही बालक शंकर वेद, पुराण, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, न्याय, सांख्य, पातञ्जल, वैशेषिक आदि अनेक शास्त्रों में पारंगत होकर बृहस्पति के समान विद्वान हो गये।

आश्रम के नियमानुसार एक दिन आचार्य शङ्कर एक विधवा ब्राह्मणी के घर भिक्षाटन के लिए पहुँचे। ब्राह्मणी परम निर्धन थी। उसके घर में इस दिव्य ब्रह्मचारी को भिक्षा देने के लिए एक मुट्ठी अन्न का नितान्त अभाव था। रोती हुई ब्राह्मणी ने शंकर के हाथों में एक आमला देकर अपनी दुरवस्था का वर्णन किया। उस विधवा की दुखद निर्धनता ने बालक शङ्कर के हृदय पर बड़ी चोट कर गयी। शङ्कर ने वहीं खड़े होकर करुणाविगलित चित्त से दारिद्रय दुःखहारिणी भगवती विष्णु-प्रिया कमला की मार्मिक एवं प्रशस्त स्तुति की।

बालक शङ्कर के प्रशस्त स्तव से प्रसन्न होकर हरिप्रिया कमला ने कहा, बेटा मैं तुम्हारे मन की बात तो समझ गयी पर, इस ब्राह्मणी ने पूर्व जन्म में ऐसा कुछ सत्कर्म किया ही नहीं जिसके फलस्वरूप इसे धन मिले। प्रत्युत्पन्नमति शङ्कर ने कहा—मातः, अभी तो इस ब्राह्मणी ने मुझे आमला दान में दिया है। बालक की प्रतिभा से प्रसन्न होकर भगवती ने दूसरे दिन उस ब्राह्मणी का घर सोने के आमले से भर दिया। इस छोटी सी घटना से बालक शङ्कर की अलौकिक शक्ति की बात चारों ओर फैल गयी।

अमानवीय प्रतिभा, तीव्र बुद्धि, विलक्षण शक्ति एवं अपूर्व श्रुतिधर गुणों से शङ्कर को अधिक दिनों तक गुरुकुल में नहीं रहना पड़ा। शङ्कर ने बचपन में ही रहस्यों के साथ समस्त विद्यायें अधिगत कर लीं। गुरु ने भी बालक शंकर की प्रतिभा से गौरवान्वित होकर दो वर्ष के बाद ही शंकर को अनेक आशीर्वाद देकर शिक्षा-समावर्त्तन की आज्ञा दे डाली।

अटल ब्रह्मचर्यव्रती

इधर माता विशिष्टा देवी ने पड़ोस की ही एक सुन्दरी कन्या के साथ शङ्कर के विवाह का निश्चय कर लिया था। गुरुकुल से लौटते ही उन्हों ने यह प्रस्ताव उनके सामने रखा। समझाया—बेटा, अनाश्रमी होकर एक दिन भी समावर्तन के वाद रहना शास्त्र विरुद्ध है[1]। विधवा माँ रोई-धोई, समझायी, पर शङ्कर पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। वे किसी भी स्थिति में विवाह करने के लिए सहमत नहीं हुए। अन्त तक वे अपने संकल्प में दृढ़ एवं अविचल बने रहे। बालक शङ्कर की दृढ़ता ओर संकल्प शक्ति ने माता को भी अभिभूत कर दिया।

यशः-ख्याति

अपने घरपर रहकर ही ब्रह्मचारी शङ्कर ने अध्ययन-अध्यापनकार्य प्रारम्भ कर दिया। अनेक प्रतिष्ठित एवं वयोवृद्ध विद्वान्-शास्त्रचर्चा के लिए शङ्कर के पास आते और उनकी शास्त्रीय व्याख्या सुनकर मुग्ध हो जाते थे। क्रमशः बालक शङ्कर का अगाध पाण्डित्य एवं असाधारण प्रतिभा की ख्याति चारों ओर फैल गयी।

एक दिन केरल-नरेश राजशेखर ने तेजस्वी बालक शंकर की ख्याति से मुग्ध होकर उन्हें सादर महल में बुलाने के लिए अपने सचिव को भेजा। त्यागी एवं विरक्त शङ्कर पर इस राज-सम्मान का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने न तो स्वर्णमुद्राओं का ही स्पर्श किया और न राजमहल जाने का ही आमन्त्रण स्वीकार किया। केरलनरेश राजशेखर स्वयं गुणग्राही कवि एवं नाटककार थे। अन्ततः वे स्वयं शङ्कर के दर्शन के लिए कालटी पहुंचे। उन्होंने अपना नाटक शङ्कर को सुनाया और उनकी आलोचना सुनकर विस्मित रह गये।

मातृ-भक्ति

शङ्कर परम मातृभक्त थे। मातृ-सेवा उनका परम धर्म था। सर्वतोभावेन माता को प्रसन्न देखना उनकी सर्वश्रेष्ठ साधना थी। उनकी माँ धर्मनिष्ठ विशिष्टा देवी प्रतिदिन 'आलवाई' नदी में स्नान करने जाती थी। रास्ते में कुलदेवता विष्णु के मन्दिर में पूजा करके घर लौटती थी। आलवाई नदी शङ्कर के घर से दूर पड़ती थी।

एक समय गर्मी के दिन विशिष्टा देवी नदी-स्नान के लिए गयी थी। बहुत समय बीत जाने पर भी जब विशिष्टा देवी लौटकर घर नहीं आई; तब मातृ-भक्त शङ्कर का चित्त व्याकुल हो उठा। माँ की खोज में वे नदी की ओर चल पड़े। रास्ते में उन्होंने देखा माँ संज्ञाहीन पड़ी हैं। किसी तरह माँ को उठाकर घर ले

---

१. अनाश्रमी न तिष्ठेत् क्षणमेकमपि द्विजः। —मनुः।

आये। माँ के इस अपार क्लेश से बालक शङ्कर का हृदय आकुल हो उठा। उन्होंने अपने कुलदेवता विष्णु से प्रार्थना की—'प्रभो, आप सर्वज्ञ हैं। माँ का कष्ट अब मुझ से सहा नहीं जाता, कृपया नदी को मेरे घर के समीप ही ला दीजिए।' मातृभक्त बालक की प्रार्थना सुन ली गयी। आलवाई नदी किनारा काटकर कालटी गाँव के पास पहुंच गयी। लोगों ने आश्चर्य से देखा—नदी की धारा सहसा परिर्वत्तित हो गयी। कुल सात-आठ साल के बालक शङ्कर की इस अलौकिक शक्ति की सूचना केरलनरेश राजशेखर को मिली तो वे विस्मित से रह गये।

एक दिन कुछ दैवज्ञ ब्राह्मण अतिथि के रूप में शंकर के घर आये। आतिथ्य से संतुष्ट होकर उन्होंने शङ्कर की जन्मकुण्डली देखने की इच्छा प्रकट की। कुण्डली देखने पर उन्हें पता चला कि जातक के जन्म-लग्न में अवतार योग है तथा जातक संन्यासी होगा। आयुष्ययोग में उन्होंने बताया कि ८, १६ और २३ वर्ष में मृत्यु योग है। अपनी अल्पायु होने की बात जानकर बालक शंकर ने संन्यास लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया। क्योंकि संन्यास के विना आत्मज्ञान असंभव था और आत्मज्ञान के विना मुक्ति संभव नहीं। ऐसी स्थिति में दिन प्रतिदिन शंकर के हृदय में संन्यास लेने की भावना प्रबलतर होती गयी। एकदिन अपना संकल्प उन्होंने माता से कह सुनाया। प्रस्ताव सुनकर माता रो पड़ी। पुत्र को छाती से लगाकर कहा—'अभी तुम बालक हो, मेरे मरने पर तुम संन्यास ले लेना। माता की इच्छा के सामने निरुपाय शङ्कर एकाग्रचित्त से भगवान की प्रार्थना प्रारम्भ की। एक दिन की विचित्र घटना ने इस बालक शङ्कर के प्रस्ताव को सफल बना दिया।

बालक शंकर का आतुर संन्यासग्रहण

एक दिन प्रातःकाल अपनी माँ के साथ शङ्कर नदी-स्नान के लिए गये। माता स्नान कर नदी से बाहर आ गयी, पर शङ्कर स्नान करते ही रहे। सहसा शङ्कर के करुण चित्कार ने माँ का ध्यान उधर खींच लिया। माता ने देखा एक विशालकाय मगर ने शङ्कर को पकड़ लिया है। असहाय बालक आत्मरक्षा के लिए छटपटा रहा है। पुत्र को बचाने के लिए माता भी नदी में कूद पड़ी। कुछ स्नानार्थी व्यक्ति भी सहायता में जुट पड़े। पर सारे उद्योग असफल सिद्ध हुए। कितना करुण दृश्य था। बालक प्राणरक्षा के लिए तड़प रहा था और भीमकाय मगर उसे गहरे पानी में खींच रहा था। आर्त्तभाव से शंकर ने कहा—माँ, मेरा अन्तिम काल अब उपस्थित है। संन्यास के विना मेरी मुक्ति नहीं होगी। अभी भी यदि तुम मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो

संभवतः आतुर संन्यास ग्रहण करने से भी मेरी मुक्ति हो जाय। विवश माँ के सामने 'हाँ' कर देने के सिवा और कोई चारा नहीं था। हाँ कहकर माता मूर्च्छित हो गई। उधर शंकर ने इष्टदेवता का स्मरण कर आतुर संन्यास ग्रहण कर लिया। उन्हें बचाने के लिए कुछ लोग प्राणों की वाजी लगाकर उनका हाथ पकड़ कर खींच रहे थे। इतने में अवसर पाकर कुछ धीवरों ने चारों ओर जाल डाल कर मगर को पकड़ लिया। ग्रामवासियों ने वेहोश माता के साथ तरुण संन्यस्त शङ्कर को घर पहुंचा दिया।

सद्‌गुरु की खोज

घर में पहुंच कर शङ्कर ने माता से कहा—'माँ अब तो मैं घर में रह नहीं सकता, क्योंकि संन्यासियों के लिए घर में रहना वर्जित है।' रोती विलखती माँ ने समझाने का अथक प्रयास किया, परन्तु शङ्कर दृढ़ प्रतिज्ञ थे। उन्होंने माँ को आश्वस्त करते हुए कहा—'माँ मैं आपके अन्तिम काल में अवश्य ही उपस्थित रहूँगा, अभी तो मुझे आशीर्वाद दो कि मेरा संन्यासग्रहण सार्थक एवं सफल हो।' माँ ने भवितव्यता को प्रबल जानकर शङ्कर को घर छोड़ने की आज्ञा दे दी।

अष्टवर्षीय तरुण संन्यासी शङ्कर गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर चल पड़े। महाभाष्य के अध्ययन काल में उन्होंने गुरु के मुख से सुना था कि स्वयं पतञ्जलि भगवान नर्मदा नदी के किनारे एक सहस्र वर्षों से समाधिस्थ हैं। दूसरे ही दिन शङ्कर ने नर्मदा तटपर अवस्थित किसी अज्ञात गुहा में अखण्ड समाधिस्थ गौड़पादाचार्य के शिष्य गोविन्दाचार्य से अद्वैत वेदान्त की शिक्षा लेने के लिए प्रस्थान किया। मुण्डित शिर, गैरिक वस्त्र, दण्डकमण्डलधारी उस बालक संन्यासी को जो देखता था—विस्मय से अवाक् रह जाता था।

एक दिन भयङ्कर गर्मी से श्लथ होकर शङ्कर एक वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहे थे। सहसा उन्होंने देखा कि एक कृष्णसर्प धूप से सन्तप्त मेढ़क के बच्चों की रक्षा अपना फण फैलाकर कर रहा है। जन्तु-जगत के इस स्वाभाविक वैरत्याग की घटना ने शंकर के हृदय पर विचित्र प्रभाव डाल दिया। उनके हृदय में उस स्थान की पवित्रता जम गई। उन्होंने अपना दृढ़ संकल्प कर लिया कि मैं अपना प्रथम मठ इसी पवित्र स्थान में बनाऊँगा। पीछे उन्हें यह भी पता चला कि यहीं सामने के पर्वत-शिखर पर श्रृङ्गी ऋषि का पावन स्थान भी है[१]।

---

१. आगे चलकर शङ्कराचार्य श्रृंगेरी मठ की स्थापना यहीं करेंगे।

सद्गुरु की प्राप्ति

इस प्रकार महीनों की यात्रा के बाद शंकर ओंकारनाथ पहुंचे। वहाँ एक गुफा में कई वृद्ध संन्यासियों को देखकर शङ्कर ने उनसे गोविन्द-पाद के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की। संन्यासियों ने कहा—सामने की गुफा में अज्ञात काल से श्रीमान गोविन्दयोगी समाधिस्थ हैं। उनसे उपदेश प्राप्त करने की प्रतीक्षा में हम लोग अब बूढ़े हो चले हैं। यतियों के आदेश से कम्पित कलेवर शङ्कर ने उस अन्धकाराच्छन्न गुफा में प्रवेश किया। प्रदीप्त दीप-शिखा के क्षीण आलोक में विस्मय-विमुग्ध होकर शंकर ने देखा—कंकाल मात्रावसिष्ट, लम्बित जटाजूटधारी अतिदीर्घकाय एक संन्यासी पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हैं। उनकी देह सूख चुकी थी, पर उससे ज्योति फूट रही थी। हृदय के अव्यक्त आवेग में नतजानु शङ्कर ध्यानस्थ हो गये। अवाध आनन्दाश्रु से उनका वक्षस्थल भींग गया। उनके मुख से अनायास निःसृत स्तवगान की सुललित ध्वनि से गुफा मुखरित हो उठा। स्तुतिगान से आकर्षित अन्य संन्यासियों ने विस्मय-विमुग्ध भाव से देखा—आचार्य गोविन्दपाद की निश्चल निःस्पन्द देह बार-बार कम्पित होने लगी। उस सूखी देह में प्राणों का कम्पन होने लगा। क्षण भर में ही उन्होंने निःश्वास छोड़ कर चक्षुरुन्मीलित किया। क्रमशः उनका मन जीवभूमि पर उतर आया। यथासमय आसन का परित्याग करके गुफा से बाहर निकल आये।

पादावनत हो शंकराचार्य ने पूज्य गोविन्दाचार्य की विह्वल स्तुति की। पहले तो वे इस बालक संन्यासी को देख कर चकित हुए—क्या कोई इतनी कच्ची उम्र में संन्यासी हो सकता है? किन्तु, जब उनकी बातचीत शङ्कर से हुई तो उन्हें ज्ञात हुआ कि शंकर इतनी छोटी उम्र में सकल शास्त्रों का मन्थन कर लिया है। इस आभास से वे अति प्रसन्न हुए कि यह बालक शिवावतार वही शंकर है जिसे अद्वैत ब्रह्मविद्या का उपदेश देने के लिए हमने आजतक समाधि ली थी। शुभ मुहूर्त में गोविन्दपाद ने आचार्य शंकर को शिष्यरूप में ग्रहण किया। एक वर्ष के भीतर ही शंकर ने हठयोग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली। द्वितीय वर्ष में शंकर राज-योग में पारङ्गत हो गये। अब शङ्कर दूर श्रवण, दूर दर्शन, सूक्ष्म देह से व्योममार्ग में गमन, देहान्तर में गमन, इच्छा मृत्यु आदि के अधिकारी हो गये। तीसरे वर्ष में गुरुने अपने सुयोग्य शिष्य को ज्ञान-योग में पारंगत कर दिया। अव बलपूर्वक अपने मन को उन्हें जीव-भूमि पड़ रखना पड़ता था। शिक्षा समाप्त होने पर एक दिन आचार्य ने शिष्य से कहा—'वत्स! तुम्हारी शिक्षा पूरी हुई। अब तुम काशी जाओ। काशी विद्वानों की नगरी है। तुम शास्त्रार्थ के द्वारा विद्वानों

को वेदान्त सम्मत अद्वैतवाद का प्रतिपादन करो तथा वेदान्त पर भाष्य लिख कर वैदिक धर्म की स्थापना करो।[1]

काशी-आगमन

शङ्कराचार्य सहर्ष गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर काशी चले आये। काशी में आकर उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इतनी कम उम्र में इतना अपार ज्ञान देख सभी विद्वान चकित हो उठे। चोलदेशीय सनन्दन नामक एक साधक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्‌गुरु की खोज में काशी आया था। शङ्कर की प्रतिभा से प्रभावित होकर वह उनका प्रथम संन्यासी शिष्य बन गया।

देवी पार्वती का दर्शन और उनके सदुपदेश से शक्ति उपसना का संचार

एक दिन प्रत्यूष वेला में सशिष्य शङ्कर स्नानार्थ मणिकर्णिका घाट की ओर चले थे। रास्ते में उन्होंने देखा एक युवती अपने मृतपति के मस्तक को अपनी गोद में लिए जोर-जोर से विलाप करती हुई आने-जाने वालों से पति के दाह-संस्कार के लिए साहाय्य की भीख माँग रही थी। मणिकर्णिका की सकड़ी गली के मध्य शव पड़ा था। आचार्य किंकर्त्तव्य विमूढ़ थे। इधर

---

१. एक अन्य कथा के अनुसार वर्षा का समय था। गुरुदेव गुफा में समाधिस्थ थे। नर्मदा में भयंकर बाढ आई थी। जलस्तर ऊपर की ओर बढ़ते-बढ़ते गुफा के द्वार तक आ गयी। संन्यासी-गण गुरुदेव के विपन्न जीवन को देख कर घबड़ा उठे। शंकर ने बड़ी शान्ति से गुफा के दरवाजे पर एक मिट्टी का घड़ा अभिमन्त्रित कर रख दिया। अब तो नर्मदा का भयंकर जलप्रवाह उसी घड़े में घुस कर विलीन होने लगा। शंकर की यह अलौकिक शक्ति देख कर सभी अवाक् रह गये। जब गुरुदेव समाधि से उठे तब शिष्यों के मुख से शङ्कर की इस अमानवीय कार्य सुन कर प्रसन्न होकर कहा—'वत्स, मैं तुम्हें अब पहचान लिया, तुम्हीं शङ्कर के अंश से उद्‌भूत लोक-शङ्कर हो। एक बार व्यास जी ने मुझसे कहा था—'जो पुरुष एक घड़े के भीतर नर्मदा की विशाल-जल राशि को भर देगा, वही मेरे सूत्रों की व्याख्या करने में समर्थ होगा।' उनका कथन आज प्रत्यक्ष हो गया। अब तुम काशी जाकर भगवान विश्वनाथ के दर्शन करो। जिस प्रकार सहस्र धारा नर्मदा-स्रोतों को तुमने कुम्भ में अवरुद्ध कर दिया है, उसी प्रकार तुम व्यासकृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचना कर अद्वैत वेदान्त को उच्चतम आसन पर प्रतिष्ठित करने में सफल होगे तथा अन्य धर्मो को सार्वभौम अद्वैत ब्रह्मज्ञान में अन्तर्मुक्त कर दोगे। जाओ तुम्हारा पथ मङ्गलमय होगा।

वह औरत कुछ सुनने को तैयार नहीं थी, उधर स्नान में विलम्ब होते देख शङ्कर ने प्रार्थना की—माँ, इसे थोड़ा हटा लो, तो दूसरी ओर से हम निकल जायँ। पर कौन सुने ? शङ्कर लगातार अनुरोध दुहराते जा रहे थे। अन्ततः खींझ कर युवती ने कहा—'महात्मन्, आप शव से ही हटने को क्यों नहीं कह देते।' आचार्य ने करुणाविल कण्ठ से कहा—माँ, तुम शोक में अत्यन्त अप्रकृतिस्थ हो गयीं हो। शव कैसे हट सकता है ? उसमें हटने की शक्ति कहाँ ? नारी ने आविल कंठ से कहा—क्यों यतिवर ! "आपका शिव निरपेक्ष ब्रह्म यदि समस्त सृष्टि का कर्त्ता हो सकता है तो फिर यह शक्तिहीन शव हट क्यों नहीं सकता ?" एक नारी के मुख से ऐसी ज्ञानगम्भीर वाणी सुन कर आचार्य शङ्कर आश्चर्य-चकित होकर क्षणभर के लिए सोच में पड़ कर नतानन हो गये। पर यह क्या ? पलभर में स्थिति बदल गयी—वहाँ न वह नारी और न वहाँ वह शव ? यह कैसी विडम्बना ! शङ्कर का अन्तःकरण एक अनिवर्चनीय आनन्द से भर उठा। शंकर ने समझ लिया कि लोकवरदा भगवती विश्वेश्वर-वन्द्या ने स्वयं अपने अस्तित्व का परिचय दे दिया हैं। इस घटना के बाद शंकर के चिन्तन और व्यवहार में एक युगान्तर सा आ गया। अब वे विश्व के अणु-अणु में उसी महामाया की लीला का अनुभव करने लगे।

काशीपति का दर्शन और उनके उपदेश से ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने का संकल्प

आचार्य शङ्कर को ब्रह्मात्मविज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में उतारने के लिये काशी में ही एक और घटना घटी। एक दिन शंकर गङ्गास्नान करने मणिकर्णिका घाट की ओर जा रहे थे। सामने की सकड़ी गली में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि एक भीषण मूर्त्ति कुरूप औघड़ शृङ्खलाबद्ध अपने चारों भयानक कुत्तों के साथ आगे की ओर बढ़ता जा रहा है। उन्होंने कई बार उसे हट जाने के लिए कहा, पर वह इनकी बात अनसुनी कर आगे बढ़ता ही गया। अन्ततः लाचार होकर शंकर ने कहा—"अरे ओ, महामानव, रुको, रोको अपने इन कुत्तों को—हमें निकल जाने दो। औघड़ ने मुस्कराते हुए कहा—"महात्मन्, तुम किसे हट जाने को कह रहे हो ? आत्मा असङ्ग, चिद्रूप, आनन्दस्वरूप एवं सर्वव्यापक है। जो व्यक्ति आत्मा-आत्मा में भेद मानता है, वह सभी जीवों में एक ही ब्रह्म का निवास कैसे मानता ? यदि देह की बात है तो वह जड़ है—वह कैसे हट सकती है और फिर एक देह दूसरी देह से किस अंश में भिन्न है ? तत्त्वदृष्टि से क्या ब्राह्मण और चाण्डाल में कोई भेद है ? गङ्गाजल और सुरा में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्बित एक ही सूर्य क्या भिन्न है ? ओ यतिवर, क्या यही तुम्हारा ब्रह्मज्ञान है ?"

औघड़ की इन बातों को सुन कर शंकर की आँखें खुल गयीं। उन्होंने समझ लिया—निश्चय ही यह कोई दैवी लीला है। सहसा उनकी आँखों के आगे से औघड़ सहित कुत्ते तिरोहित हो गये और उन्होंने देखा उनके सामने एक दिव्य त्रिशूलधारी विभूति खड़ा है। आचार्य ने गद्गद चित्त से भगवान शंकर के रूप में उन्हें देख, गुरु मानकर उनकी स्तुति प्रारम्भ कर दी। स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान शंकर ने कहा—"वत्स, मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। लोक-कल्याण के लिए ही तुमने मेरे अंश से जन्म ग्रहण किया है। व्यासकृत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना कर वेदान्त की निर्दोष व्याख्या द्वारा भ्रम-संकुल मतवादों का खण्डन कर अब तुम सर्वसाधारण में वैदिक धर्म का प्रचार करो।" इतना कह कर काशीपति अन्तर्ध्यान हो गये।

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचनार्थ बदरिकाश्रम प्रस्थान

गम्भीर अभिनिवेश के साथ ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचना के लिए आचार्य ने बदरिकाश्रम जाना स्थिर किया। अब काशी में विजयपताका फहराने के पश्चात् वे हिमालय की ओर चल पड़े। समुत्सुक जिज्ञासुओं को अपना उपदेशामृत पिलाते तथा अनेकानेक तीर्थों की धूलि मस्तक पर धारण करते हुए वे आगे बढ़ते गये। मात्र बारह वर्ष के ये संन्यासी तीन महीनों तक पथ-कष्ट का अनुभव करते हुए १०, २४४ फीट की ऊँचाई तक पहुँच गये। अब उन्हें थोड़ी दूर पर बदरी-क्षेत्र दिखाई पड़ने लगा। अमलधवल हिम-शिखर पर ढेर-ढेर सोना लुटाने वाली सूर्य-किरणें शंकराचार्य के मनःप्रान्तर में एक विचित्र आनन्द की लहरें उठाने लगीं। समीपस्थ तप्त-कुण्ड में स्नान कर आचार्य श्रीबदरी-विशाल के मन्दिर में प्रविष्ट हुए। पर, हाय! ऋषियों द्वारा प्रतिष्ठापित श्रीनारायणविग्रह के स्थान पर शालग्राम मूर्त्ति देखकर क्षणभर के लिए वे हतप्रभ हो गये, फिर भारी मन से देवार्चनादि समाप्त कर मन्दिर से बाहर निकले।

अर्चकों से पूछा—नारायणविग्रह से यह मन्दिर शून्य क्यों हैं? उत्तर मिला—विधर्मी दस्युओं के आक्रमण के समय हमारे पूर्वजों ने निकटवर्त्ती उस कुण्ड में श्रीविग्रह को छिपा दिया, बाद में सैकड़ों प्रयास के बाद भी उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सका। कुछ क्षण तक चुप रहने के बाद आचार्य उस नारद-कुण्ड की ओर चले। किनारे पर कुछ क्षण तक खड़े रहने के बाद धीरे-धीरे कुण्ड-जल में उतर पड़े। यह देख कर अर्चक एवं सहयात्री कहने लगे—'महात्मन्, कुण्ड के साथ अलकनन्दा का तीव्र संयोग है। भयंकर जलधारा आपको नदी-गर्भ में खींच लेगी। अनेकों व्यक्ति इसी प्रकार अपने प्राणों से

हाथ धो बैठे हैं, आप बाहर निकल आइये, पर शंकर ने जैसे कुछ सुना ही नहीं, कुण्ड में डुबकी लगा दी। कुछ देर में ही चतुर्भुज नारायण की एक मूर्त्ति हाथ में लिए बाहर आ निकले। पर, यह क्या वह मूर्त्ति तो खण्डित निकली। आचार्य ने उसे अलकनन्दा में विसर्जित कर दिया और पुनः उन्होंने डुबकी लगायी। इस प्रकार वे तीन बार डुबकी लगाते गये और तीनों बार वही भग्न मूर्त्ति हाथ लगी। ईश्वर की इस विचित्र लीला पर स्तम्भित होकर वे सोच ही रहे थे कि उन्हें आकाशवाणी सुनाई दी—"शंकर दुविधा में मत पड़ो, कलियुग में अब इस भग्न विग्रह की ही पूजा होगी।"

आचार्य शंकर का हृदय आनन्द से उद्वेलित हो उठा। उन्होंने स्वयं यथाशास्त्र उस मूर्ति का अभिषेक संपन्न कर मन्दिर में श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा कर दी और स्वजातीय नम्बूदरीपाद ब्राह्मण को उनकी पूजा का भार सौंप कर स्वयं व्यासाश्रम की ओर चल दिये।

बदरीनाथ के उत्तर में थोड़ी दूर पर त्रिकोण-क्षेत्र की अन्तिम सीमा पर स्थित एक पर्वतगुहा में व्यास जी का आश्रम था। यहाँ शंकर ने चार वर्षों तक निवास किया। यहीं उन्होंने ब्रह्म-सूत्र, गीता, उपनिषद् तथा सनत्-सुजातीय पर अपना प्रामाणिक भाष्य रचा और अपने शिष्यों को भाष्य पढ़ाना प्रारम्भ भी कर दिया। इन शिष्यों में सनन्दन विलक्षण बुद्धि का साधक निकला। शङ्कर ने उन्हें तीन बार अपना शारीरिक भाष्य पढ़ाया। अन्य शिष्यों के हृदय में इस पक्षपात से ईर्ष्या होने लगी।

कहा जाता है कि एक दिन सनन्दन अलकनन्दा के उस पार घूम रहा था। अचानक आचार्य ने आर्त्त स्वर से पुकारा—सनन्दन कहाँ हो ? शीघ्र आओ ? गुरु के इस त्रस्त आह्वान से सनन्दन विचलित हो उठा। पुल लाँघकर इस पार आने में बड़ा समय लगेगा यह सोच, प्राणों का मोह छोड़ कर उसपार से वह हिमाच्छन्न अलकनन्दा में सीधे कूद पड़ा। दूसरे तट पर खड़े अन्य शिष्य गण सनन्दन की आसन्न मृत्यु की आशङ्का से चीत्कार कर उठे। नदी की धारा में सहसा एक कमल प्रस्फुटित हो गया और उसी पर अपना पैर रख कर सनन्दन दूसरे क्षण गुरु के पास पहुँच गया। इस अलौकिक घटना से सभी शिष्य विस्मयविमुग्ध हो उठे। गुरु ने कहा—सनन्दन पर भगवती की कृपा है, आप लोगों ने देखा ? आज से यह पद्मपाद नाम से प्रसिद्ध होगा। अब सनन्दन की समझ में गुरु के आकुल आह्वान का रहस्य आया।

तीर्थाटन

इस घटना के बाद आचार्य ने यहाँ से ज्योतिर्धाम के लिए प्रस्थान किया। ज्योतिर्धाम में कुछ दिन निवास करने के बाद केदार क्षेत्र के लिए

प्रस्थान किया। विकट मार्गों को तय करते हुए कुछ दिनों में आचार्य केदारनाथ पहुँचे। पूजा-अर्चा के बाद वहाँ से उन्होंने तुंगनाथ के लिए प्रस्थान किया। तुंगनाथ से आचार्य क्रमशः शोणितपुर, गुप्त काशी, मध्यमेश्वर, महिषमर्दिनी, शाकम्भरी, त्रियोगीनारायण, शोणप्रयाग, मुण्डहीन गणेश आदि स्थानों का दर्शन कर गौरी के तपस्यास्थल गौरीकुण्ड पहुँचे। इस स्थान की ऊँचाई ६५०० फीट है। केदार के इन निर्जन परिवेश में कुछ दिनों तक आत्मानन्द का साक्षात्कार कर आचार्य गंगोत्री की ओर चल पड़े। रास्ता दुर्गम था। ११, ३६४ फीट की पँवाली की कठिन चढ़ाई थी। हिंसक जंगली जन्तुओं से सारा पथ भरा था। फिर भी जीवन-मृत्यु से संग्राम करते हुए आचार्य शंकर एक पक्ष तक चलते रहे। अन्ततः १६ वां दिन उन्हें वहाँ भगवती भागीरथी के दर्शन हुए। भागीरथी के तीर से आचार्य सीधे गंगा के उत्पत्तिस्थान गौमुखी की ओर चल पड़े। यहाँ तक का पथ उस समय सर्वसाधारण द्वारा पार नहीं किया जाता था। पर जीवन और मृत्यु की परवाह किये बिना ही वे आगे बढ़ते गये। क्रमशः गौमुखी में आचार्य पहुँच कर आत्मविभोर हो उठे। घोर हिमपात के कारण अधिक दिनों तक वहाँ न ठहर कर वे पुनः गंगोत्री की ओर लौट पड़े। कुछ दिनों तक गंगोत्री में निवास करने के बाद आचार्य अपने शिष्यों के साथ उत्तर काशी पहुंच गये।

भगवान वेदव्यास का दर्शन

उत्तर काशी में आचार्य अति आनन्दित थे। उस समय सोलहवें वर्ष में पदार्पण हो चुका था। एक दिन प्रातःकाल आचार्य शिष्यों को शारीरिक सूत्रभाष्य पढ़ा रहे थे। इतने में एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ उपस्थित होकर सामान्य अभिवादन के बाद ब्राह्मण ने आचार्य शंकर के साथ ब्रह्मसूत्र के एक सूत्र (३।३।१) पर शास्त्रार्थ प्रारंभ कर दिया। ब्राह्मण ने अनेक जटिल प्रश्नों की अवतारणा की। आचार्य ने शान्त भाव से सबों का यथार्थ उत्तर दिया। न तो ब्राह्मण के प्रश्नों का अन्त होता था और न आचार्य शंकर के ज्ञानभण्डार की कमी होती थी। शास्त्रार्थ लगातार सात दिनों तक चलता रहा। दोनों के असाधारण पाण्डित्य, स्मृतिशक्ति, मेधा, अन्तर्दृष्टि तथा विचार की निपुणता ने शिष्यों को स्तम्भित कर दिया। अन्ततः सातवें दिन ब्राह्मण ने शास्त्रार्थ की समाप्ति की घोषणा कर दी।

ब्राह्मण की विलक्षण प्रतिभा देखकर पद्मपाद के हृदय में संशय उत्पन्न हुआ। उन्होंने एकान्त में आचार्य से पूछा—प्रभु, ये ब्राह्मण देवता कौन हैं? इनकी प्रतिभा देखकर लगता है ये स्वयं छद्मवेषधारी वेदव्यास ही हैं। आचार्य ने हँसते हुए कहा—तुम्हारा अनुमान ठीक हो सकता है। दूसरे दिन ब्राह्मण के

आने पर श्रद्धावनत होकर आचार्य ने पूछा—देव ! हमें लगता है कि आप स्वयं कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास हैं। अगर यह सत्य है तो कृपया अपना स्वरूप दिखा कर हमें कृतार्थ कीजिए।

आचार्य की बात सुन कर ब्राह्मण ने हँसते हुए कहा—'वत्स, तुम्हारा अनुमान सत्य है।' इतना कह कर उन्होंने इन्हें अपना भव्य रूप दिखलाया और इनके शाङ्करभाष्य को स्वयं देखा। स्थान-स्थान पर भाष्य में किये गये कटाक्षों की सराहना करते हुए उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्रों के अभिप्राय को ठीक-ठीक व्याख्या करने के कारण आशीर्वाद दिया और शङ्कर को १६ वर्ष की और अतिरिक्त आयु देकर चिन्तामुक्त कर दिया। अद्वैततत्त्व के प्रचुर प्रचार के लिए कुमारिल भट्ट, मण्डन मिश्र प्रभृति विद्वानों को जीत कर अपने मत में ले आने का उपदेश देकर वे तत्काल अन्तर्ध्यान हो गये।

दिग्विजयी (जगद्गुरु) बनने का संकल्प

भगवान वेदव्यास के चले जाने पर आचार्य शंकर के मन में 'कुमारिलविजय' भावना वार-वार उठने लगी। पर कुमारिल भट्ट कौन हैं ? कैसे और कहाँ मिलेंगे ? यह एक गम्भीर समस्या थी। एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण ने आचार्य के शिष्यों को बतलाया कि कुमारिल भट्ट एक प्रातःस्मरणीय व्यक्ति हैं। वे दिग्विजयी विद्वान् हैं। विभिन्न धर्म एवं मतावलम्बियों को शास्त्रार्थ में उन्होंने पराजित कर वैदिक-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की है। इस आर्यभूमि में वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के लिए उनका शरीर धारण हुआ है। उत्तर भारत के मिथिलाप्रदेश में एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ है।[1] आजकल अत्यन्त वृद्ध होने के कारण वे तीर्थराज प्रयाग में निवास कर रहे हैं।

---

१. (क) संस्कृत सुकवि समीक्षा पृ० ४३३ में आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—'मिथिला की जनश्रुति है कि कुमारिल मैथिल ब्राह्मण थे, जो ठीक हो सकती है।'

(ख) मिथिला देश यज्ञदेश है 'स ज्ञेयो यज्ञियो देशः' अत एव मीमांसा शास्त्र का इस देश में सदा से सम्मान है। बड़े-बड़े मीमांसक वहीं उत्पन्न हुए—यथा भट्ट कुमारिल, प्रभाकर मिश्र, मुरारि मिश्र, मण्डन मिश्र, शालिकनाथ मिश्र, पार्थसारथि मिश्र वाचस्पति मिश्र आदि आदि १४ सौ दार्शनिक मीमांसक उस समय मिथिला में थे।

(ग) आनन्दगिरि ने अपने 'शंकर-विजय' पृ० १८० में लिखा है—भट्टाचार्याख्यो द्विजवरः कश्चित् उदग्देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्बिनो बौद्धान् सांख्यान्'' निर्जित्य''' '''निर्भयो वर्तते।

वेदावतार कुमारिल भट्ट का दर्शन

कुमारिलभट्ट के उत्कर्ष पाण्डित्य को सुन कर आचार्य शंकर प्रभावित हो उठे। शावरभाष्य पर कुमारिल द्वारा लिखित विस्तृत वार्त्तिक आचार्य का दूसरा आकर्षक था। वे ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना कर चुके थे। उनकी इच्छा थी कि कोई विशिष्ट विद्वान् इस पर वार्तिक लिखें। आचार्य अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी शिष्य-मण्डली के साथ उत्तर काशी से प्रयाग की ओर प्रस्थान कर दिये। यमुना के किनारे-किनारे चलकर वे त्रिवेणी तट पर पहुँच कर शान्तभाव से एक वृक्ष के नीचे बैठे ही थे कि किसी ने सूचना दी कि भट्टपाद गुरुवध (?) के प्रायश्चित्त स्वरूप आज तुषानल में प्रविष्ट हो रहे हैं। समाचार सुनते ही आचार्य उधर चल पड़े। दूसरे ही क्षण उन्होंने देखा पर्वत के समान तुषों की ढेर पर कुमारिल उपविष्ट हैं और नीचे से आग सुलग रही है। आचार्य उनकी विद्वत्ता से परिचित थे। ऐसे विद्वान् की यह दशा देखकर वे बड़े विह्वल हुए। उन्होंने कहा—हे पण्डिताग्रगण्य, आज मैं आप के पास वेदव्यास जी द्वारा आदिष्ट होकर उपस्थित हुआ हूँ। आपको वैदिक धर्म की रक्षा में मेरे द्वारा लिखित भाष्यों का वार्त्तिक लिखना है। अतः आप अपने को तुषानल में प्रवेश न करें।

पर, कुमारिल भट्ट का निर्णय अटल था। उन्होंने आचार्य से कहा—यतिवर! मैं अन्तिम समय आपका दर्शन कर कृतार्थ हूँ। मैंने बोद्धों को पराजित करने के लिए छद्मवेष धारण कर विद्या पायी है। उसी छद्म का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ। क्योंकि—

> अवादिषं वेदविघातदक्षैस्तन्नाशकं जेतुमबुध्यमानः।
> तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्य बोधाद्धि निषेध्य बाधः॥
>
> —(शं० दि० सर्ग ७–श्लो० ९३)

मैंने अपने जीवन में दो महान् अपराध किये हैं—एक तो अपने ही बौद्ध गुरु धर्मपाल को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनके शरीर का नाश और दूसरा जैमिनि के मीमांसादर्शन में एकनिष्ठ चित्त से 'ईश्वर असिद्ध है' ऐसा प्रमाणित करना। दोनों ही महान् दोषों के लिए मैं अपराधी हूँ। मेरे इस पाप के प्रायश्चित्त का एक ही मार्ग है—तुषानल में प्रविष्ट होकर देह-त्याग। किन्तु,

---

(घ) तिब्बती विद्वान् तारानाथ का कहना है कि कुमारिलभट्ट प्रसिद्ध बौद्ध पण्डित धर्मकीर्त्ति के पितृव्य थे। इनका जन्म चोल राज्य के त्रिमलय नामक स्थान में हुआ था। पर भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता इसके सर्वथा विरुद्ध हैं।

मेरे प्राणविसर्जन के समय आप मेरी एक बात अवश्य स्मरण रखें। आप मेरे शिष्य विचक्षण विद्वान् मण्डन मिश्र को अपने पाण्डित्य द्वारा अवश्य वशीभूत करें। उनका साथ मिल जाने पर आपको अपने वेदान्त के प्रचार-प्रसार में बड़ी सुगमता होगी।

तबतक भट्टपाद के शरीर में अग्नि का उत्ताप अनुभूत होने लगा। उन्होंने शंकर से सविनय कहा—महात्मन्, अब मैं चित्त को परब्रह्म में समाहित कर रहा हूँ। आप कृपया मुझे तारक ब्रह्म का नाम सुनाइये। यह सुनकर शङ्कर का मुखमण्डल हृदयावेग से आरक्त हो उठा। वे अति गम्भीर स्वर से तारक ब्रह्म का नामोच्चारण करने लगे। देखते ही देखते वेद का वह प्रदीप्त सूर्य तीर्थराज प्रयाग में अस्त हो गया। भाराक्रान्त प्राण से उस स्थान को छोड़कर आचार्य शङ्कर अपने शिष्यों के साथ मण्डन मिश्र से मिलने के लिए चल दिये।

मण्डन मिश्र की खोज में आचार्य का मिथिला (?) प्रस्थान

जिस समय चलते-चलते आचार्य शङ्कर मण्डन-मण्डित माहिष्मती[1] (वर्तमान समय मिथिला के महिषी गाँव) पहुंचे, दोपहर का समय हो गया था।

---

१. इतिहासकारों ने एकमत से मण्डन मिश्र की जन्म-भूमि का नाम 'माहिष्मती' स्वीकार किया है। कुछ लोगों ने अनर्गल अनुमान लगाकर 'मान्धाता' को ही 'माहिष्मती' सिद्ध करने की कुचेष्टा की है, जिनमें न इसकी कोई मापक युक्ति, तर्क या तुक ही है। मान्धाता इन्दौर जनपद का एक छोटा सा गाँव है, जहाँ न मण्डन मिश्र का स्मृति-शेष है और न कुछ स्मारक ही। ठीक इसके विपरीत मिथिला जन-पद के आधुनिक 'सहरसा' जिले में 'माहिष्मती' का अपभ्रंश 'महिषी' नामक प्रतिष्ठित मैथिल ब्राह्मणों का एक गाँव है, जिसमें मिश्रजी के वंशज अभी भी विद्यमान हैं, उस गाँव में मण्डन मिश्र द्वारा स्थापित भगवती उग्रतारा का मन्दिर आज भी क्षेत्रीय जनता का तीर्थस्थल बना है। इस गाँव में मण्डन मिश्र का स्मारक तो है ही, उनके वंशावली भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी आचार्य शंकर के साथ इनका काल ठीक बैठ जाता है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी 'माहिष्मती' का अपभ्रंश 'महिषी' भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में महामान्य मण्डन को मिथिलेतर जनपद-वासी कहकर एक तथ्य को छिपाने के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता। संभव है इन्दौर जनपद में भी मण्डन मिश्र नाम का कोई विद्वान् ब्राह्मण हुआ हो, किन्तु आचार्य शंकर के शिष्य सुरेश्वाचार्य (मण्डन) तो महिषी निवासी मैथिल ही थे। इतना ही नहीं मण्डन मिश्र शाक्त मैथिल थे, इसका अन्तरङ्ग प्रमाण भी उपस्थित है। आचार्य शंकर ने जिस

अपने शिष्यों को एक भव्य मन्दिर (मंडन स्थापित भगवती तारा) के प्राङ्गण में विश्राम करने की अनुमति देकर स्वयं मण्डन मिश्र से मिलने चले। मण्डन मिश्र कितने बड़े उद्भट विद्वान् थे इसका पता इसी से चल जाता है कि आचार्य ने जब एक स्त्री से मण्डन मिश्र के घर का पता पूछा तो उसने कहा—"वेद स्वतः प्रमाण है या परतः प्रमाण है, कर्म स्वतः फल देता है या कर्म का फल ईश्वर देता है, इतना ही नहीं, जगत् सत्य है अथवा असत्य इन विषयों की चर्चा जहाँ पिंजरस्थ शुकाङ्गनाएँ करतीं हों, वही मण्डन मिश्र का घर है"—

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥
फलप्रदं कर्मफलप्रदोऽजः कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥
जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति,
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥"

—स्त्री की इन बातों को सुनकर आचार्य बड़े ही चकित हुए। जिस समय वे आचार्य मण्डन मिश्र के घर पहुंचे, उस समय उनके घर के सभी दरवाजे एकदम बन्द थे। शिष्यों ने बताया "अभी हमारे आचार्य भीतर प्रांगण में पिता का वार्षिक श्राद्ध कर रहे हैं। अतः इस समय किसी को अन्तःपुर जाने की अनुमति नहीं है।" तब शङ्कर अपने योग-बल द्वारा आकाश से प्राङ्गण में पहुंच गये। मण्डन ने इस श्राद्ध में महर्षि जैमिनि और व्यास जी को भी निमंत्रित किया था।[१] मिश्र जी इन दोनों की सेवा में नियुक्त थे। सहसा आकाश मार्ग से एक संन्यासी को उतरते देख, बड़े विस्मित हुए। इधर शंकर ने इन दोनों महर्षियों

उद्देश्य से मण्डन मिश्र को अपना शिष्य बनाया, पद्मपाद के अन्य शिष्यों ने इस उद्देश्य की पूर्ति इस लिये नहीं होने दी थी कि वे पहले के शाक्त मैथिल थे। शंकरदिग्विजय एवं शंकराचार्य के जीवनवृत्त से सम्बन्धित कतिपय अन्य ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है कि मण्डन मिश्र ने परिस्थितिवश पराजित होकर संन्यास ग्रहण किया था, अतः उनके द्वारा आचार्य शंकर के भाष्य पर वार्तिक की रचना उचित नहीं समझ कर ही पद्मपाद के शिष्यों ने श्री मिश्र से विरोध कर इनके द्वारा प्रारब्ध वार्तिक-रचना कार्य को बन्द भी करवा दिया था। अतः युक्तियों, तर्कों एवं तथ्यों के आधार पर पूज्य मिश्र जी मैथिल मीमांसक ही सिद्ध होते हैं।

१. मण्डन मिश्र एक मंत्र-सिद्ध शाक्त मैथिल थे। वे कतिपय अलौकिक शक्तियों के भी अधिकारी थे। मंत्र-बल से ही उन्होंने इन दोनों दिवंगत सूक्ष्म देहधारियों को बुलाया था।

को एक साथ उपस्थित देख कर उनके चरण की वन्दना की। परन्तु, मण्डन मिश्र आवेश में आकर बोल उठे—

आचार्य और मण्डन मिश्र में परस्पर व्यंग्योक्ति

मण्डन—कुतो मुंडी ? (ओ संन्यासी, तुम इस अवसर पर कहाँ से आये ?)

'कुतो मुण्डी' का दूसरा अर्थ यह भी है कि 'तुम किस अङ्ग से मुण्डित हो'। इसी अर्थ को मान कर—

शंकर—मैं गले तक मुण्डी हूँ, अर्थात् मेरा सिर मुड़ा है।

मण्डन—'पन्थाः पृच्छ्यते' (राह के विषय में पूछता हूँ कि कहाँ से आये हो ?)

'पन्थाः पृच्छ्यते' को कर्मवाच्य का प्रयोग मानकर अर्थात् 'मार्ग मुझ से पूछा जाता है' इस अर्थ को लक्षित कर—

शंकर—मार्ग से पूछने पर उसने आपको क्या उत्तर दिया ?

मण्डन—मार्ग ने मुझे उत्तर दिया—'त्वन्माता मुण्डा' (तुम्हारी माता मुण्डा है।)

शंकर—बहुत ठीक। आप ने मार्ग से पूछा है, अतः उसका उत्तर भी आप के लिए ही है।

मण्डन—'अहो पीता किमु सुरा' (क्या तुमने सुरा (शराब) पीली है) ?

'पीता' शब्द का दूसरा अर्थ पीला रङ्ग भी है, इसी अर्थ को लक्ष्य कर—

शंकर—सुरा श्वेत होती है पीली नहीं।

मण्डन—वाह तुम तो उसके रङ्ग को भी जानते हो।

शंकर—मैं तो रङ्ग ही जानता हूँ, आप तो उसके रस से भी परिचित हैं।

मण्डन—'मत्तो जातः कलञ्जाशी विपरीतानि भाषते' (कलञ्ज अर्थात् विषैले बाण से मारे गये हिरण के मांस, खाने से तुम मत्तः अर्थात् पागल हो गये हो क्या ?)

'मत्तः' शब्द अस्मद् शब्द से तसिल् प्रत्यय करने पर भी बनता है, जिसका अर्थ हुआ 'मत्तो जातः' अर्थात् मुझ से उत्पन्न 'मेरा पुत्र'। इसी अर्थ को ग्रहण कर—

शंकर—आप ठीक ही कह रहे हैं। पिता के समान ही आप से उत्पन्न पुत्र 'कलञ्ज' खाने वाला होगा।

इस प्रकार क्रोध से मण्डन मिश्र दुर्वाच्य बोल रहे थे और आचार्य शंकर उनकी हर बातों का उत्तर उपहासपूर्वक बड़े शान्त भाव से दे रहे थे तथा जैमिनि मुस्कराते हुए इन दोनों की चर्चा में रस ले रहे थे कि सहसा व्यास जी

बीच ही में बोल उठे—"मण्डन, ये यति हैं, अतएव विष्णुस्वरूप हैं। इसके अतिरिक्त अभी ये आपके अतिथि भी हैं। इनका यथोचित सत्कार होना चाहिए।

तब मिश्रजी शान्त हो गये। शास्त्रज्ञ तो थे ही व्यास जी की आज्ञा से प्रकृतिस्थ होकर यथाविधि अतिथिसत्कार करते हुए भिक्षाटन के लिए उन्होंने आचार्य शंकर को आमन्त्रित किया।

शंकर ने कहा—हे सौम्य ! मैं यहाँ अन्न-प्रार्थी होकर नहीं, प्रत्युत आपसे शास्त्रार्थ करने के निमित्त आया हूँ। प्रण यह है कि शास्त्रार्थ में जो पराजित होगा, उसे दूसरे का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा। सुधीवर, मुझे इसी की भीख चाहिए। मैं विचार-प्रार्थी होकर आपके गुरु वेदावतार भट्ट कुमारिल के पास प्रयाग गया था, उन्होंने प्रायश्चित्त के लिए महाप्रयाण किया है। महाप्रयाण करते समय उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। विचार में आपको पराजित कर आपके द्वारा मैं स्वरचित प्रस्थानत्रय के भाष्यों के वार्तिक की रचना करना चाहता हूँ। इसी उद्देश्य से मैं आपके पास आया हूँ। गुरु के स्वर्गवास का समाचार सुन कर पहले तो वे पर्याप्त दुखी हुए—कुछ क्षण पश्चात् स्वस्थ होकर उन्होंने कहा—"मैं आपके विचार से सहमत हूँ।" आज श्राद्ध-कार्य समाप्त कर लूँ, कल प्रातःकाल विचार प्रारम्भ होगा।"

आचार्य का मण्डन मिश्र तथा भारती से शास्त्रार्थ

प्रातः शास्त्रार्थ में मध्यस्थ के लिए आचार्यने उन (महर्षि जैमिनि और व्यास) दोनों मुनियों से प्रार्थना की, किन्तु वे इस बात को जानते थे कि मण्डन की पत्नी "उभय भारती" सरस्वती का अवतार हैं। अतः उन्होंने समवेत स्वर से कहा—'इस विचार में मण्डन की पत्नी ही मध्यस्था रहेंगी।' फिर क्या था दूसरे दिन दोनों विद्वानों में वाग्युद्ध प्रारंभ हुआ। दोनों पक्षों की सम्मति से भारती ससंकोच मध्यस्थ के आसन पर आ बैठी। दोनों महापुरुषों की ग्रीवाओं में मालाएँ डाल दी गयीं। भारती ने कहा—'जिसकी माला पहले कुम्भलायेगी वह पराजित माना जायेगा।' जब कई दिनों तक शास्त्रार्थ चलता रहा तो एक दिन मण्डन के गले की माला कुम्हला गयी। पराजित मण्डन ने शङ्कराचार्य को गुरु मान लिया। उन्होंने आचार्य से संन्यास-धर्म में दीक्षित करने की प्रार्थना की। इस बार भारती ने कहा—'मैं इनकी अर्द्धाङ्गिनी हूँ। जब तक आप मुझे पराजित नहीं करते तब तक आपकी विजय पूरी नहीं मानी जायगी।' भारती के साथ भी १७ दिनों तक शास्त्रार्थ चलता रहा। पण्डित-मण्डली भारती के अगाधशास्त्रज्ञान और असामान्य विचार-शक्ति से अत्यन्त विस्मित थी। इधर भारती ने देखा कि वेदादि समस्त शास्त्रों में आचार्य को

जीतना संभव नहीं है। अतः १८वें दिन आसन पर बैठते ही उन्होंने प्रश्न किया—'काम का क्या लक्षण है? काम-कला कितने प्रकार की होती हैं? शरीर के किस अङ्ग में काम का निवास है तथा किन क्रियाओं से स्त्रियों में उसका आविर्भाव होता है?

शङ्कर इन प्रश्नों को सुनकर स्तब्ध रह गये। कुछ क्षणों के बाद उन्होंने कहा—देवि, एक बालसंन्यासी से इस प्रकार के प्रश्न क्यों पूछ रही हैं?

भारती ने कहा—क्यों यतिवर, कामशास्त्र क्या शास्त्र नहीं है? सर्वत्यागी संन्यासी होकर भी आप विजिगीषा छोड़ नहीं सके। संन्यासी तो जितेन्द्रिय होते हैं न? काम-चर्चा में आपको चित्त-विकार क्यों होगा? मण्डन किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये थे। पर, पत्नी के ऐसे अशोभनीय प्रश्नों से विचलित होकर उन्होंने कहा—'देवि, तुम्हें ऐसे प्रश्न शोभा नहीं देते।' भारती ने सगर्व कहा—क्यों? ज्ञानलाभ होने से तो कामक्रोधादि पर भी विजय प्राप्त होता है—अगर कामशास्त्र की आलोचना से इनमें चित्तविकार उत्पन्न होगा तो फिर ये तत्त्वज्ञानी कैसे हैं? और अगर इन्हें तत्त्वज्ञान नहीं है तो आपके गुरु होने योग्य भी नहीं हैं। पत्नी की बात सुन कर मिश्र जी मौन हो गये और आचार्य ने हँसते हुए कहा—'मातः, आपके प्रश्नों का उत्तर देने के लिए मैं एक मास का समय चाहता हूँ। भारती ने कहा—तथास्तु (मंजूर है)।

मण्डन मिश्र के घर छोड़कर आचार्य अपने शिष्यों के साथ यंत्र-चालित की तरह पूर्वोत्तर की ओर चल पड़े। कुछ दिन रास्ता चलने के बाद एक विशाल जनहीन वन दिखाई पड़ा। अपने शिष्यों की सलाह लेकर अपना शरीर एक गुफा में शिष्यों के संरक्षण में छोड़कर आत्मना एक मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर गये और वह मृत राजा जी उठा। राजवेषधारी शङ्कर ने राजा की रमणियों के सम्पर्क में रह कर कामशास्त्र में विशेष निपुणता प्राप्त कर ली और वात्स्यायन लिखित कामसूत्रों का अध्ययन भी राजपण्डितों के सम्पर्क से कर लिया तथा भारती के सभी प्रश्नों के उत्तर में कामशास्त्र पर एक ग्रन्थ ही रच डाला। एक दिन आचार्य शंकर आत्मना राजा का शरीर छोड़ कर गुफा में रखी अपनी देह में पुनः आ गये और शिष्य-मण्डली के साथ मण्डन मिश्र के घर चल पड़े।

३१वें दिन मिश्र जी आचार्य के लौटने की प्रतीक्षा में थे ही कि आचार्य उपस्थित हो गये और उन्होंने भारती को अभिनन्दित करते हुए कहा—देवि, यह ग्रन्थ स्वीकार कीजिए। इसमें आपके सभी प्रश्नों के उत्तर लिखे हैं। भारती ने उस कामशास्त्र के ग्रंथ को आदि से अन्त तक पढ़ कर विद्वन्मण्डली के समक्ष पति की पराजय स्वीकार कर लिया। पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार मण्डन मिश्र ने

शङ्कर से संन्यास की दीक्षा ले ली।[1] आचार्य ने उन्हें सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात किया। उसी समय भारती ने योगारूढ़ होकर अपना पार्थिव शरीर छोड़ दिया।

पराजित मण्डन का शिष्यत्व ग्रहण और दिग्विजयी आचार्य के साथ भ्रमण

मण्डन उस युग की पण्डित-मण्डली के मण्डन थे। सपत्नीक उन्हें पराजित होने के पश्चात् शङ्कर की कीर्ति-कौमुदी चारों दिशाओं में फैल गयी। वे अपने विचारों का प्रचार करने पहले तमिलप्रदेश पहुँचे। कुनूल जिले में श्रीपर्वत नामक एक पवित्र स्थान है, वहाँ कापालिकों का भारी अड्डा था। यहीं रहते समय शङ्कर का उग्र भैरव नामक एक कापालिक से संघर्ष हुआ था। वह धूर्त कापालिक आचार्य का शिष्य बन गया और कार्यसिद्धि के लिए अवसर ढूंढ़ने लगा। एक दिन उसे अवसर मिल गया। आचार्य एकान्त में बैठे थे, उग्र भैरव ने रोते हुए विनय के साथ कहा—देव, आप मेरे एकमात्र अभीष्ट को पूर्ण कर मेरा मानवजन्म सार्थक कीजिए। यही मेरी कातर प्रार्थना है। आचार्य का हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा, उन्होंने कहा—वत्स, तुम्हारा अभीष्ट क्या है? उसने कहा—'देव, मैंने महादेव की जीवन भर उग्र तपस्या की है। महादेव ने मेरी तपस्या से प्रसन्न होकर मुझ से कहा है कि यदि मैं किसी महान् तपस्वी के मस्तक से रुद्र का होम कर सकूँ तो मुझे भगवान शङ्कर के पार्षदों में स्थान मिल जायेगा। आप सर्वज्ञ पुरुष हैं, आप से क्या बताऊँ? अगर आपका मस्तक नहीं मिला तो मेरा सारा जीवन व्यर्थ हो जायेगा। उग्र भैरव की प्रार्थना सुन कर आचार्य ने उसे बहुत तरह से समझाया किन्तु परिणाम नगण्य रहा। अन्ततः आचार्य ने सोच-विचार कर कहा—'तुम्हारी प्रार्थना पूरी होगी' पर, शिष्यों को यदि यह पता चल गया तो तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं होगी। उसने कहा—आप साक्षात् भगवान् हैं। किसी को कुछ भी पता नही चलेगा। मैं सारा प्रबन्ध कर लूँगा। निकट के जंगल में भैरवों का एक आसन है; वहीं सारा आयोजन होगा। अगली अमावास्या की मध्य रात्रि में आप वहाँ आ जायेंगे।

आचार्य सहमत हो गये। अमावास्या की मध्यरात्रि आगयी। शिष्यों को

---

१. महान् आस्तिक शाक्त मिथिला के इतिहास में एकमात्र मण्डन ही ऐसे विद्वान् हुए, जिन्हें परिस्थितिवश विवश होकर संन्यास धारण करना पड़ा।

अश्वालम्भं गजालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्॥

मिथिला में यह मन्वादिस्मृतिवचन अभी भी सर्वमान्य है।

सोते हुए छोड़ कर आचार्य अकेले जंगल की ओर चल पड़े। उग्रभैरव बीच रास्ते में ही आचार्य की प्रतीक्षा कर रहा था। पूजा का सारा आयोजन प्रस्तुत था। होमाग्नि प्रज्वलित थी। उग्रभैरव का दैत्यसदृश एक सहचर हाथ में त्रिशूल लिए उस स्थान की रक्षा कर रहा था। उसने आचार्य से कहा—प्रभो, शुभ मुहूर्त्त उपस्थित है, आप बलि-पत्थर पर अपना सिर रखिये। आचार्य ने शान्त भाव से कहा—क्षण भर रुको, मैं समाधिस्थ हो जाऊँ, उसके बाद तुम अपना काम करना। आचार्य योगासन में बैठकर समाधिस्थ होगये।

उधर शिष्यों के साथ सो रहे पद्मपाद ने स्वप्न में देखा "एक कापालिक आचार्य की गरदन काट रहा है।" बड़े ही आर्द्रभाव से पद्मपाद ने अपने इष्टदेव नृसिंह से प्रार्थना की। उसने देखा—भयंकर मूर्त्ति धारण कर भगवान चारों ओर ज्योति फैलाते हुए सम्मुख उपस्थित होकर उसके शरीर में प्रविष्ट हो गये। फिर क्या था? भीषण गर्जन करते हुए शय्या से उठकर पद्मपाद जंगल की ओर दौड़ पड़े। उधर उग्र भैरव तेज तलवार हाथ में लिए आचार्य का मस्तक काटने के लिए खड़ा था। झपट कर नृसिंह-देवाविष्ट पद्मपाद ने उग्र भैरव के हाथ से खड्ग लेकर उसीका सिर काट डाला। इस भयंकर परिवर्त्तन से वहां उपस्थित सभी कापालिक भाग खड़े हुए। पद्मपाद उन्मत्त की तरह गरज रहे थे। तबतक आचार्य के सभी शिष्य वहाँ पहुंच गये। भयङ्कर दृश्य को देख कर सभी थरथर कांपने लगे। पद्मपाद के गर्जन से आचार्य की भी समाधि टूट गयी। उन्होंने देखा देवताओं को भी संत्रस्त करनेवाले उग्ररूप मैं भगवान नृसिंह उनके सामने गरज रहे हैं। वे नारायण को उस रूप में उपस्थित देख कर भक्तिकातर भाव से उनकी प्रार्थना करने लगे। दूसरे ही क्षण नृसिंहदेव अदृश्य हो गये और पद्मपाद मूर्छित होकर गिर पड़े।

शिष्यों की सेवा से पद्मपाद पुनः चैतन्य लाभकर आचार्य को अपना स्वप्न वृत्तान्त कहने लगे। सुरेश्वराचार्य ने अत्यन्त हर्षावेग से पद्मपाद को गले लगा लिया।

इस घटना के बाद आचार्य शङ्कर ने दक्षिण भारत के अन्य तीर्थों की ओर प्रस्थान किया। सर्वप्रथम यहाँ से आचार्य गोकर्ण क्षेत्र गये। बम्बई में पश्चिमी समुद्र के किनारे यह क्षेत्र आज भी सुप्रसिद्ध शैव-तीर्थ माना जाता है। यहाँ आचार्य कई दिनों तक रहे। यहीं उन्होंने महावलेश्वर भगवान शंकर की स्तुति की। यहां से अपनी शिष्य-मण्डली के साथ आचार्य हरिशंकर नामक तीर्थ पहुँचे। इस तीर्थ के नामानुरूप उन्होंने हरिशंकर की स्तुति श्लेषपूर्ण पद्यों में की। इसके बाद मूम्बिका के मन्दिर की ओर चल पड़े। रास्ते में एक विचित्र घटना घटी।

आचार्य धीरे-धीरे ध्यानमग्न होकर आगे बढ़ रहे थे कि उन्होंने एक द्विज-दम्पति को अपने मृत-पुत्र को गोद में लिए आर्त्तक्रन्दन करते देख करुणा-विगलित आचार्य का हृदय द्रवीभूत हो उठा, उनके पैर सहसा रुक गये। द्विज-दम्पति ने मृत-पुत्र को उनके चरणों पर डालकर उसके प्राण की भीख माँगने लगे। आचार्य का गतिपथ रुद्ध था। वे यथास्थित खड़े-खड़े आँख बन्द कर भगवती मूम्बिका की स्तुति करने लगे। उपस्थित जनसमूह विस्मय-विमुग्ध होकर भावाविष्ट यति को देख रहा था। अचानक आचार्य के चरणों पर स्थित शिशु का शव धीरे-धीरे स्पन्दित हो उठा—मानो शिशु निद्रा से जग कर इधर-उधर देखने लगा। द्विजदम्पति के पास कृतज्ञता प्रकट करने का शब्द नहीं था। आचार्य धीरे-धीरे देवीदर्शन के लिए मन्दिर में प्रविष्ट होकर भावाविष्ट स्थिति में भगवती के गम्भीर ध्यान में लीन हो गये।

मूम्बिका पण्डितप्रधान स्थान है। वहाँ शारदा-पीठ प्रतिष्ठित है। स्थानीय पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके ही कोई उस पीठ में बैठने का अधिकार लाभ कर सकता था। अबतक उस पीठ में बैठने का दुर्लभ सम्मान किसी को प्राप्त नहीं हुआ था। शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित होकर आचार्य भी शारदा-पीठ आये थे। पण्डितों की अपार भीड़ एकत्र हो गयी थी। शास्त्रार्थ कई दिनों तक चलता रहा अन्त में आचार्य ने धीर भाव से सभी प्रश्नों का उत्तर देकर सबों को निरस्त कर दिया।

सभासदों ने साग्रह शारदा-पीठारोहण के लिए आचार्य से निवेदन किया। कुछ दिनों तक आचार्य वहाँ रहकर अपने शिष्यों के साथ श्रीवलि की ओर चल पड़े।

श्रीवलि अग्निहोत्री ब्राह्मणों की प्रधान बस्ती थी। मृत-शिशु को जिलाने की आचार्य की कीर्त्ति पहले ही वहाँ पहुंच चुकी थी। यहाँ प्रभाकर नामक एक धार्मिक ब्राह्मण रहते थे। उन्हें १३ वर्ष का एक पुत्र था, जो जन्म से ही जड़ था—न किसी से बातें करता और न हँसता-बोलता ही था। ब्राह्मण अपने पुत्र की दयनीय स्थिति से अत्यन्त दुखी थे। आचार्य के वहाँ पहुँचते ही, उन्होंने अपने पुत्र की राम-कहानी कह सुनाई और अपने बालक को शंकर के चरणों में उपस्थित कर दिया। उस ब्राह्मण की बात सुनकर आचार्य ने ब्राह्मण से पूछा—

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽस्ति गन्ता, किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतद् वद त्वं मम सुप्रसिद्धं मत्प्रीतये प्रीतविवर्धनोऽसि॥

आचार्य के प्रश्नों को सुनकर उनके श्रीमुख पर दृष्टिनिबद्ध कर मधुर कण्ठ से बालक ने उत्तर दिया—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

आचार्य के प्रश्न पर जन्म के गूंगे बालक के मुख से आत्मस्वरूप प्रकाश श्लोकात्मक वाक्य सुन कर सभी आश्चर्य-चकित हो गये। आचार्य ने भी विस्मित होकर अपने शिष्यों से कहा—यह बालक अवश्य कोई ब्रह्मज्ञ पुरुष है। हाथ के आमले की तरह ही इसने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इसने श्लोक-बद्ध अभी जो परिचय दिया है—वह 'हस्तामलक' स्तोत्र नाम से प्रसिद्ध होगा। ब्रह्मज्ञान में पूर्णतः प्रतिष्ठित यह बालक चिदानन्द स्वरूप है। केवल प्रारब्धक्षय के लिए ही शरीर धारण कर रखा है।

यह सुन बालक के पिता ने विनत-भाव से प्रणत होकर आचार्य से निवेदन किया—देव, अपनी माता का यह अकेला पुत्र है। वह विचारी पुत्रगत प्राण है। आप जो कुछ कहते हैं सत्य है, पर उसे भी तो सारी बातें बता दूँ।

यह कह कर प्रभाकर अपने पुत्र के साथ घर चले आये और उन्होंने पत्नी को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सारी बातें सुन कर जननी बार बार अपने बेटे के मुँह चुमने लगी। उसने बालक से बार-बार आग्रह किया कि एक बार भी वह उसे 'माँ' कह दे, पर लड़का पूर्ववत् चुप ही रहा। तब पुत्र के भावी विरह से माँ अकुलाकर रोने लगी।

दूसरे दिन पत्नी और पुत्र के साथ प्रभाकर पुनः आचार्य के चरणों में उपस्थित हुए। ब्राह्मणी आचार्य के चरणों में सिर रखकर आर्त्तनाद करने लगी। उसने कहा—हे यतिवर, आप सर्वसमर्थ हैं। आप मृतक को भी जीवित कर सकते हैं। कृपया मेरे पुत्र को भी प्रकृतिस्थ कर दीजिए। मुझे एक ही पुत्र है, इसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती। मेरी गोद खाली न कराइये। इसे अच्छा कर दीजिए। हे प्रभो, आप की कृपा से सब कुछ संभव है।

ब्राह्मणी का व्याकुल क्रन्दन सुन कर आचार्य आविल हृदय हो उठे। उन्होंने सान्त्वना के स्वर में कहा—माता, आप व्यर्थ शोक न करें। आप इस पुत्र को गृहस्थ नहीं बना सकेंगी। इस बालक के शरीर में एक सिद्ध योगी निवास करते हैं।

ब्राह्मण-दम्पति आचार्य की बातें सुन कर स्तब्ध रह गये। तब आचार्य ने उनकी पूर्वस्मृति जागरित करते हुए कहा—याद कीजिये जब यह बालक दो साल का था, आपलोग इसे लेकर यमुना स्नान करने के लिए गये थे। वहाँ तट पर स्थित एक कुटी में ध्यानस्थ एक योगी के निकट अपने शिशु पुत्र को छोड़ कर आप लोग स्नान करने लगे। इधर खेलते-खेलते शिशु पानी में लुढक कर मर गया। तब मृत पुत्र को गोद में लेकर आप दोनों ने उस योगी के पास जाकर

आर्त्तनाद करना प्रारम्भ किया। इस आर्त्तनाद से योगी के हृदय में करुणा का संचार हुआ और वे योगबल से उस मृत-शिशु के शरीर में प्रवेश कर गये, बालक जी उठा। आप लोग प्रसन्नतापूर्वक घर लौट आये। वे ही सिद्ध योगी इस बालक के शरीर में निवास कर रहे हैं। आप लोग व्यर्थ इन्हें गृहस्थ बनाने की दुश्चेष्टा न करें।

आचार्य की बातें सुनकर ब्राह्मण दम्पत्ति को अतीत की सारी घटना याद हो आई। बालक ने भी उसी समय कहा—माता, आपने मेरा परिचय तो पा ही लिया, अब व्यर्थ मुझे गृहस्थ बनाने की चेष्टा न करें। मुझे यहीं छोड़ कर आप लोग जायें। मैं वर देता हूँ आपको शीघ्र ही एक पुत्र होगा। मेरी कामना व्यर्थ न होगी। आचार्य को प्रणाम कर द्विज-दम्पति भारी मन से घर लौट आये। आचार्य ने शुभ मुहूर्त में उस बालक को संन्यास-धर्म में दीक्षित कर लिया। हस्तामलक के नाम से इस बालक की प्रसिद्धि हुई। आचार्य के प्रधान शिष्यों में हस्तामलक अन्यतम थे। ये ही द्वारका पीठ के प्रथम अध्यक्ष बनाये गये।

श्रीवलि के अनन्तर आचार्य दक्षिण भारत के अन्य तीर्थों की ओर चल पड़े और इसी क्रम में वे मैसूर राज्य के शृङ्गेरी पहुंचे। यह स्थान तुङ्गभद्रा नदी के किनारे स्थित है। शङ्कर को लगा कि तुङ्गभद्रा की कलकल ध्वनि वेद मंत्रों का उच्चारण करती हुई अपने अंचल में मठस्थापना का आमन्त्रण दे रही है। यह वही स्थान था जहाँ बारह साल पूर्व शंकर ने एक विशाल कालसर्प को फण फैलाकर मेढ़क शावकों की रक्षा करते देखा था। आज उन्हें अपने पुरातन स्वप्न को साकार करने का अवसर मिल गया। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर अपना मन्तव्य सुनाया। मठस्थापना की बात सुन कर सभी प्रसन्न हो गये। ऋष्यशृङ्ग के इस प्राचीन आश्रम में शिष्यों के अनुरोध से कई कुटियाँ बनवाई गयीं। धीरे-धीरे वहाँ मन्दिर और मठ तैयार हो गये। आचार्य ने स्वयं श्रीयंत्र की स्थापना कर मन्दिर का प्रतिष्ठा-कार्य सम्पन्न किया। मन्दिर में शारदा की प्रतिष्ठा कर श्रीविद्या के सम्प्रदायानुसार आचार्य ने तांत्रिक पूजा-पद्धति की व्यवस्था कर दी। आचार्य ने शृङ्गेरी को अद्वैतवाद के प्रचुर प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाया। कई दृष्टियों से जगत् के आध्यात्मिक इतिहास में शृङ्गेरी मठ की स्थापना एक विशेष महत्त्व की घटना है। यहीं रह कर आचार्य ने प्रस्तुत आत्मानात्मविवेक, आत्मबोध तथा अपरोक्षानुभूति, विवेकचूडामणि, बोधसार, अज्ञान-बोधिनी, दृग्दृश्यविवेक, सर्वदर्शनसिद्धान्त, विवेकवैराग्योद्दीपक आदि आदि अनेकानेक अमूल्य ग्रन्थों की रचना की।

शृङ्गेरी मठ में दुखद दुर्दशा से जर्जरित, संशय और अविश्वास से पीड़ित,

आकांक्षा और अहंकार से अभिभूत आर्त्त भक्तों की भीड़ लगी रहती थी। इन्हीं भक्तों में आचार्य का एक अनन्य भक्त 'गिरि' था। 'जस नाम तस गुण'। वह पक्का जड़ था, पर था शंकर का एकान्त भक्त। आचार्य जब अपने सुयोग्य शिष्यों को अध्यात्म शास्त्र पढ़ाते रहते थे, तब गिरि श्रद्धावनत होकर ध्यानपूर्वक गुरु की व्याख्या प्रतिदिन सुना करता था। इस नियम में कभी व्यतिक्रम नहीं हुआ। एक दिन निकटवर्ती नदी में गिरि आचार्य के वस्त्रों को धो रहा था। इधर आचार्य के अध्यापन का समय आ गया। शिष्यगण एकत्र हो गये। शान्ति पाठ के लिए उन्हें उद्यत देख कर आचार्य ने कहा—'क्षणभर रुको, गिरि अभी आता होगा।' कुछ देर प्रतीक्षा करने पर भी गिरि नहीं लौटा तब पद्मपाद ने आचार्य से निवेदन किया—'प्रभो, क्या गिरि आप की शास्त्र-व्याख्या समझ पाता है ?'

आचार्य ने कहा—'नहीं, गिरि कुछ नहीं समझता यह सत्य है, पर, वह श्रद्धा के साथ एकाग्र होकर सब कुछ सुनता है।'

उधर नदी में कपड़े धोते समय उसे अनुभव हुआ कि गुरुदेव उस पर परम प्रसन्न होकर सामने खड़े आशीर्वाद दे रहे हैं। उसका अन्तःकरण एक दिव्य प्रकाश से उद्भासित हो उठा। उसे ऐसा लगा मानो वह सारी विद्याओं का अनायास अधिकारी बन गया है। उसका सम्पूर्ण अन्तःकरण अनिर्वचनीय आनन्द से अभिभूत हो उठा। वस्त्र धोकर लौटते समय उसे ऐसा लगा कि उसके सारे चिन्तन छन्दोबद्ध होकर कविता के रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं। भावाविष्ट की तरह अभिभूत सा वह गुरु के चरणों में उपस्थित होकर उनकी स्तुति करने लगा। उसके मुख से अध्यात्मविषयक विशुद्ध पद्यमयी स्तुति सुन कर शिष्यों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा—जिसे वे वज्र मूर्ख समझ कर निरादर कर रहे थे, वही सच्चे अर्थ में अध्यात्मविद्या का पारगामी पण्डित निकल पड़ा। उसके मुख से स्तुति-वाणी 'तोटक' छन्द में निकल रही थी। अतः आचार्य ने उसका नाम 'तोटकाचार्य' ही रख दिया। आचार्य के सुविज्ञ शिष्यों में तोटकाचार्य का अन्यतम स्थान है। जब ज्योतिर्मठ की स्थापना हुई तब आचार्य ने इस मठ के अध्यक्ष पद का भार इन्हीं पर सौंप दिया।

शृङ्गेरी के शान्त वातावरण में वार्तिक-रचना का अच्छा अवसर था। शंकर ने एक दिन सुरेश्वराचार्य (मण्डनमिश्र) को बुला कर कहा—'वेदव्यास ने कुमारिल भट्ट के द्वारा वार्त्तिक रचना का निर्देश किया था। कुमारिल भट्ट ने तुम्हारे द्वारा वार्त्तिक-रचना कराने की इच्छा प्रकट की थी। मेरी भी यही इच्छा है कि तुम ब्रह्मसूत्रभाष्य के वार्त्तिक की रचना करो।' गुरुदेव के आदेशानुसार सुरेश्वराचार्य गंभीर एकाग्रता के साथ वार्त्तिक-रचना में प्रवृत्त हुए। क्रमशः ये बातें शिष्यों में

भी प्रचारित हो गयीं। शिष्यों ने एक झमेला खड़ा कर किया। सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे। कर्ममीमांसा में विशेष दक्ष थे। उन्होंने संकटापन्न स्थिति में संन्यास ग्रहण किया है। ऐसे अनेक निन्दात्मक वचन कह कर शिष्यों ने गुरु के प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। इनकी सम्मति में पद्मपाद ही इस कार्य के पूर्ण अधिकारी थे। आचार्य ने जब ऐसी विरुद्ध बातें सुनी तो सुरेश्वराचार्य को बुलाकर एकान्त में कहा—'बेटा, तुम अब वार्तिक की रचना मत करो। अन्य लोगों की ऐसी ही इच्छा है। अब तुम पहले अद्वैत सिद्धान्त के विषय में तत्त्वज्ञानपूर्ण एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिखो।' फिर पद्मपाद को बुलाकर कहा—देखो, सबों की इच्छा है कि तुम सूत्रभाष्य के ऊपर वार्तिक लिखो; पर, मेरी इच्छा है कि तुम सूत्रभाष्य की टीका लिखो। आचार्य की आज्ञा से पद्मपाद टीका रचना में प्रवृत्त हुए। उधर सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक गंभीर तात्पर्य तथा युक्तिपूर्ण ब्रह्मात्मविज्ञान के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना कर गुरुदेव को समर्पित कर दिया। ग्रंथ का आद्यन्त पढ़ कर आचार्य ने कहा—मैं प्रसन्न हूँ, तुम इसी प्रकार 'ब्रह्मसिद्धि' और 'इष्टसिद्धि' नामक दो और ग्रन्थ लिखो। उनके जाने पर अन्य शिष्यों को बुला कर आचार्य ने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' ग्रंथ दिखलाया। सबों ने मुक्तकण्ठ से उस ग्रन्थ की प्रशंसा की। मण्डन की वार्तिक रचना बन्द हो जाने की घटना का पूरा पता जब पद्मपाद को चला तो वे बहुत दुखी हुए। आचार्य की इच्छा में बाधा डालने के कारण उन्होंने अपने को महान् अपराधी माना। पश्चात्ताप से उनका हृदय भर गया। अब वे उसके प्रायश्चित्तस्वरूप तीर्थाटन का निश्चय किया और उन्होंने सूत्रभाष्य पर टीका लिख कर गुरु चरणों में समर्पित कर दिया। गुरुदेव उसे पढ़ कर प्रसन्न हुए तथा उन्होंने उसका नाम 'विजय डिण्डिम' रख दिया। जब पद्मपाद ने तीर्थाटन का अपना निश्चय आचार्य को सुनाया तो पहले वे उन्हें समझा बुझाकर रोकना चाहा, पर शिष्य का दृढ़ निश्चय जान कर अन्त में उन्होंने अनुमति दे दी।

मुमूर्षु जननी का अन्तिम दर्शन

एक दिन प्रातःकाल आचार्य अपने शिष्यों के बीच शास्त्र-व्याख्या कर रहे थे। सहसा उन्हें अपनी जननी की याद आ गयी और वे चंचल हो उठे। उन्हें लगा कि उनकी माता अब इस नश्वर शरीर को त्यागने वाली ही है। वे योगबल से झट माँ के निकट पहुंच गये। माँ मृत्यु-शय्या पर पड़ी थी। लगता था कि उनके प्राण अपने पुत्र को अन्तिम बार स्नेहसिक्त करने के लिए ही अटके हुए हैं। पुत्र को देख कर माता का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। उन्होंने कहा—'तुम

प्रसन्न तो हो, देखो, अब मेरे महाप्रयाण का आयोजन करो।' शङ्कर ने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया। पर माता ने कहा—मेरी बुद्धि इसे ग्रहण नहीं कर पाती। तब शङ्कर ने आर्त्तभाव से भगवान् विष्णु की स्तुति की। उस सौम्य मूर्त्ति का ध्यान करते-करते माता ने अपने प्राण छोड़ दिये।

शंकर ने अपने जाति-भाइयों से माता के दाह-संस्कार में सहायता चाही, पर कुटुम्बियों ने उत्तेजित होकर कहा—तुम पाखण्डी हो, शठ और धूर्त हो, संन्यासी होने के बाद माता का दाह-संस्कार करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। तुम्हें अब इस सम्पत्ति का अधिकार भी नहीं मिलेगा। शंकर ने विनीत स्वर में कहा—'माता की इच्छानुसार मैं दाहसंस्कार करूंगा और सारी सम्पत्ति माता की वृद्धा सेविका और गरीब पड़ोसी को दूंगा। यही मेरा अन्तिम संकल्प है।' यह सुन वे सब शान्त हो गये, पर जब उन लोगों ने सहायता देने से अपना मुँह मोड़ ही लिया। तब असहाय शंकर ने स्व० माता की सेविका की सहायता से कुछ लकड़ियाँ जुटा कर आवासस्थल पर ही माता का दाह-संस्कार कर दिया और अपने दायादों को इस हृदय-हीनता व्यवहार के लिए शाप दे दिया। तभी से इन ब्राह्मणों के घर के पास ही श्मशान भूमि बनती है। अभी भी केरल में शवसंस्कार (श्मशान) आवास भूमि पर ही होता है।

केरल नरेश राजशेखर से भेंट

आचार्य योग-सिद्ध ब्रह्मर्षि थे। वे आकाशमार्ग से ही माता के समीप आये और उन्होंने अतीन्द्रिय शक्ति से माता को अन्तिम क्षण में इष्ट दर्शन कराया। ये बातें सर्वत्र फैल गयीं। यह समाचार जब केरल के राजा राजशेखर ने भी सुना तो वे आचार्य से मिलने आये। जाति-भाइयों द्वारा किये गये कुकृत्य के सम्बन्ध में जब उन्हें पता चला तो वे क्रोधित हो उठे। किन्तु आचार्य ने उन सभी ब्राह्मणों को क्षमा कर देने को कहा। शंकर ने राजा से पूछा—'आजकल आपकी साहित्य-चर्चा कैसी चल रही है।' राजा ने लम्बी साँस लेते हुए कहा—'देव, जिन तीन नाटकों को पढ़ कर मैंने आपको सुनाया था, दुर्योग वश वे अग्नि में भस्मीभूत हो गये। उसके बाद तो कुछ उत्साह ही नहीं रहा। राजा की मनोवेदना समझते हुए आचार्य ने कहा—आपके सुनाये वे तीनों नाटक मुझे अभी भी स्मरण है। यदि आप चाहें तो मुझसे उनका पुनरुद्धार कर सकते हैं। राजाज्ञा से तुरन्त लिपिक की नियुक्ति हुई और आचार्य लिखाने लगे। थोड़े ही दिनों में तीनों नाटक तैयार हो गये। ग्रन्थ पढ़ कर राजा विस्मयविमुग्ध हो गये। उसी समय आचार्य ने केरल के समाज-संस्कार पर एक संक्षिप्त धर्मसंहिता लिखी। राजशेखर ने उसका नाम 'शंकर-स्मृति' रखा।

अद्वैत मत का प्रचार

आचार्य के जीवन में ममता का जो एकमात्र धागा था वह भी टूट गया। माता के निधन के बाद वे पूरे वीतराग हो गये। अद्वैत मत के प्रचार का उनका संकल्प दृढ़ था। तदर्थ अपने प्रमुख शिष्यों के साथ सर्वप्रथम उन्होंने 'सेतुबन्ध' की यात्रा की मार्ग में तुलाभवानी नामक तीर्थ में आकर आचार्य ने भवानी, महालक्ष्मी और सरस्वती के उपासकों में सत्यधर्म की व्याख्या द्वारा उनके शाक्त मतों का संस्कार किया।

इसके उपरान्त आचार्य रामेश्वरम् पहुँचे। यहाँ उन्होंने शैवमत का संस्कार साधन किया। इसके बाद श्रीरङ्गम्, सुब्रह्मण्यम् तथा शुभगणपुरम् आदि तीर्थ स्थानों का दर्शन करते हुए 'काँचीपुरम्' पहुँचे। यहाँ तान्त्रिकों का साम्राज्य था। अतः यहाँ उन्होंने कामाक्षी देवी के मंत्र की प्रतिष्ठा करके श्रुतिस्मृति अनुमोदित पूजा का निर्देश दिया। इसके अनन्तर सशिष्य आचार्य ताम्रपर्णी, वेंकटाचल और विदर्भ होकर कर्नाटक के उज्जयिनी में पधारे। कर्नाटक देश में कापालिकों का सरदार क्रकच रहता था, जिसे परास्त करने के लिए शंकर वहाँ पहुंचे थे। देखते ही क्रकच ने आचार्य को अपशब्द कहना प्रारम्भ कर दिया और अपने ही तंत्रबल से उसने संहारभैरव का आह्वान किया। दशो दिशाओं को प्रकम्पित करता हुआ—संहार भैरव वहां आविर्भूत हो गया। क्रकच ने नतजानु होकर शंकर के प्राण-नाश की प्रार्थना की। परन्तु संहार भैरव ने शङ्कर को अपना ही रूप बतलाया और उसके पुनः उत्तेजित होने पर उस दुष्ट क्रकच को ही मार डाला।

कापालिकों के उद्धार-साधन के अनन्तर आचार्य कर्नाटक के मल्लपुर, मरुन्ध नगर आदि अनेक स्थानों से होते हुए चार्वाक, सौगत, क्षपणक, जैन, बौद्ध, कुक्कुर-सेवक, विष्वक्सेन उपासक तथा कामदेवमतावलम्बियों का संस्कार करके क्रमशः आन्ध्रप्रदेश की ओर अग्रसर हुए। गोकर्ण क्षेत्र में नीलकंठ नामक एक द्वैतवादी शैव विद्वान् रहते थे। इनके साथ आचार्य का तुमुल शास्त्रार्थ हुआ। अन्ततः परास्त होकर नीलकंठ ने अपना शैवभाष्य फेंक कर अपनी भक्त-मण्डली के साथ शङ्कर के अनुचर बन गये। आन्ध्रप्रदेश के अनेक स्थानों का भ्रमण कर आचार्य ने अद्वैत ब्रह्मात्मविज्ञान का प्रचार किया। इसके बाद आचार्य कलिङ्गदेशवासियों के संस्कार-साधन में प्रवृत्त हुए। कलिङ्ग राजा ने अपने मंत्रियों के साथ इनका स्वागत किया। वहाँ से आचार्य पुरी धाम पधार कर दर्शनार्थ श्री-मन्दिर पहुंचे। मन्दिर में कोई विग्रह प्रतिष्ठित नहीं था। शालग्राम शिला पर ही भगवान् की पूजा होती थी। वहाँ कुछ दिन रुक कर आचार्य ने

सर्वप्रथम रत्नपेटिका का उद्धार किया। पुनः एक शुभ मुहूर्त में यथाविधि अभिषेक एवं पूजा समाप्त कर आचार्य ने सूर्याग्नि सदृश जगन्नाथ के दिव्य मूर्त्ति की मन्दिर में प्रतिष्ठा की।

यहाँ से आचार्य मगध राज्य के तीर्थाटन करते हुए द्वारिका धाम पहुँचे। यहाँ पञ्चरात्रों का प्रधान अड्डा था। आचार्य की प्रखर प्रतिभा के सम्मुख उन्हें भी नतमस्तक होना पड़ा। यहाँ से चल कर वे उज्जयिनी पहुँचे। उज्जयिनी में भेदाभेदवादी प्रकाण्ड विद्वान् भास्कर से विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ। वादानुवाद क्रमशः घोर वितण्डा और जटिल तर्क में परिणत हो गया। दोनों ही एक दूसरे के अखण्डनीय तर्कों का खण्डन करने लगे। विपुलशास्त्रार्थ के बाद भास्कर की प्रभा क्षीण पड़ गयी। अन्ततः उन्होने भी अद्वैतवाद को ही उपनिषद्-प्रतिपाद्य सिद्धान्त मान लिया।

द्वारिकापुरी से आचार्य क्रमशः कोंकण, गुजरात, पुष्कर तीर्थ आदि स्थानों में होते हुए सिन्धु प्रदेश आए। यहाँ के विभिन्न मतावलम्बी साधक आचार्य के श्रीमुख से वेदान्त की व्याख्या सुन कर अद्वैतमत में श्रद्धान्वित हुए। सिन्धु प्रदेश से आचार्य शङ्कर अनेक तीर्थों, ग्रामों नगरों तथा जनपदों में वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए गान्धारदेश पहुंचे। उन दिनों यहाँ बौद्धधर्म का बोल-बाला था। बौद्ध पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर आचार्य ने यहां भी वैदिक धर्म की स्थापना की। इसके बाद वाह्लीक प्रदेश में भी जैनियों तथा बौद्धों को पराजित कर आचार्य ने वैदिक मत का प्रचार किया। तदनन्तर काम्बोज, दरद और मरुस्थल आदि देशों के विभिन्न मतावलम्बियों को शास्त्र-विचार में पराजित करके आचार्य उच्च पर्वतश्रेणियों को पार कर काश्मीर में प्रविष्ट हुए।

काश्मीर में भगवती शारदा का दर्शन

काश्मीर में प्रवेश कर सर्वप्रथम आचार्य शारदापीठ पधारे। शारदापीठ में वाग्देवी सरस्वती का एक प्रसिद्ध देवालय है, जहाँ उस समय सर्वज्ञ-पीठ नाम से एक पीठ स्थापित था। उस पीठ पर उपविष्ट होने की आकांक्षा से यदि कोई पण्डित वहाँ जाते थे तो उन्हें शारदा-मन्दिर के चारों द्वारों पर अवस्थित सभी सम्प्रदाय के पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करना होता था।

मन्दिर का दक्षिण दरवाजा सदा बन्द ही रहता था। आचार्य अपने कुछ शिष्यों के साथ दक्षिण द्वार खोल कर ज्यों ही मन्दिर में प्रवेश करने लगे, चारों ओर से पण्डितों की मण्डली उन पर टूट पड़ी और गरजने लगी—'यतिवर, क्या आप सर्वज्ञ हैं? अपनी सर्वज्ञता का परिचय देकर ही दक्षिण द्वार से मन्दिर में प्रवेश कीजिए।' शंकर ने विभिन्न दर्शनों के जटिल प्रश्नों का उत्तर देकर

अपने सर्वज्ञ होने के दावे को सप्रमाण सिद्ध कर दिया। भीतर जाकर ज्योंहीं वे सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण करने लगे, शारदा की भावना आकाश वाणीरूप में प्रस्फुटित हो उठी—'इस पीठ पर अधिरोहण करने के लिए सर्वज्ञता के साथ पवित्रता भी अपेक्षित है यतिवर !, संन्यासी होकर भी काम-कला सीखना, शरीरान्तर से कामनियों का उपभोग करना क्या गर्हित कर्म नहीं है ? भला ऐसा व्यक्ति पावन चरित होने का अधिकारी कैसे हो सकता' शङ्कर ने उत्तर दिया—'अम्बे, शरीरान्तर में किये गये पाप क्या तद्भिन्न शरीर को स्पर्श कर सकता है ?' शङ्कर की इस युक्ति के सामने वाग्देवता स्तब्ध रह गयीं। उन्होंने कहा—'वत्स शंकर ! मैं प्रसन्न हूँ, केवल तुम्हीं इस पीठ के योग्य पात्र हो। प्रसन्न चित्त से सर्वज्ञ पीठ पर आरोहण करो।' देववाणी से मन्दिर कम्पित हो उठा, लोग स्तम्भित हो गये। आचार्य धीरे-धीरे शारदापीठ पर चढ़ कर सुखासन में उपविष्ट हुए। कुछ दिन उस पीठस्थान में रह कर उन्होंने सर्वसाधारण में अद्वैत ब्रह्मतत्त्व की भावना जाग्रत की।

ब्राह्मण वेष में आचार्य गौड़पाद का दर्शन

एकदा आचार्य गौड़देश अर्थात् आधुनिक उत्तरी बंगाल पहुँचे। उस समय गौड़देश में मीमांसक मुरारि मिश्र और धर्मगुप्त के पाण्डित्य का विशेष प्रभाव था। पर्याप्त शास्त्रीय विचार के बाद मुरारि मिश्र भी आचार्य के शिष्य बन गये। यहाँ एक दिन सन्ध्यासमय आचार्य गंगातट पर भावाविष्ट होकर बैठे थे। सहसा उन्होंने देखा एक दिव्य पुरुष जटाजाल-मण्डित सामने से आ रहा है। आचार्य ने उठ कर प्रणामपुरस्सर उस पुरुष से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की। उस महापुरुष ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—'वत्स शंकर ! जिस परमतत्त्व की शिक्षा तुम्हें मेरे प्रिय शिष्य गोविन्दपाद ने दी है, उसमें तुम सम्यक् प्रतिष्ठित हो गये हो।' आचार्य ने कहा 'हे परम गुरो, आपकी कृपादृष्टि जब मुझ पर है तो मुझे सब कुछ प्राप्त हो गये।' आचार्य के विनीत वचनों से प्रसन्न होकर आचार्य गौड़पाद ने कहा—यतिवर, तुमने ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों पर भाष्यों की रचना की है और मेरे द्वारा लिखित सांख्य-कारिका पर जो तुमने भाष्य लिखा है उसमें मेरा जो अभिप्राय था उसकी अभिव्यक्ति कर तुमने मेरे हृदय को अपने भाष्य में रख दिया है। सचमुच में तुम जगद्गुरु हो, तुम्हारा भाष्य इस पृथ्वी तल पर अलौकिक प्रभासम्पन्न होकर जगत् का वास्तविक मंगल करेगा।

आचार्य गौड़पाद के दर्शनलाभ के बाद ही शंकर के अन्तर में अज्ञान भावान्तर उत्पन्न हो उठा। वे सर्वदा ध्यानमग्न ही रहने लगे। इसे देख कर शिष्यगण विशेष चिन्तित हुए। आचार्य की आयु भी ३२ वर्ष की हो चुकी थी।

महाप्रयाण

एक दिन आचार्य शिष्यों को विना कहे ही चुपचाप बदरीनाथ चले गये। कुछ दिनों तक वहाँ रह कर दत्तात्रेय के दर्शनार्थ उनके आश्रम गये। दत्तात्रेय से आशीर्वाद लेकर वे कैलास पर्वत पर स्थूल शरीर छोड़ कर सूक्ष्म शरीर में लीन हो गये। अधिकांश संन्यासियों के बीच यही वृत्तान्त प्रमाणिक एवं श्रद्धेय है। शृङ्गेरी पीठानुसारी ग्रन्थों में भी यही वृत्तान्त उपलब्ध है। केरल तथा काम कोटि की परम्परा इससे विल्कुल भिन्न है। माधवाचार्य के अनुसार कुछ और तथा स्वामी अपूर्वानन्द की दृष्टि में कुछ और। ऐसी विषम परिस्थिति में इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहा नहीं जा सकता। पर इतना बहुमत से निश्चित है कि आचार्य शङ्कर ने ३२ वर्ष की आयु में इस लोक को छोड़ दिया। अवसान तिथि के सम्बन्ध में भी मतभिन्नतायें हैं। कुछ लोग उनका अवसान वैशाख शुक्ल १० को, कुछ वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को तो कुछ कार्तिक शुक्ल एकादशी को मानते हैं।

उपसंहार : संस्तुति

आचार्य ने अपने विजय अभियान के सन्दर्भ में शृंगेरीमठ के अतिरिक्त जगन्नाथ पुरी में गोवर्द्धनमठ, द्वारिका में शारदामठ तथा बदरिकाश्रम में ज्योतिर्मठ की स्थापना की। ये सभी मठ वैदिक संस्कृति के केन्द्र, वर्णाश्रमधर्म के निकेतन तथा भारतीय विद्या के जीते-जागते केन्द्र हैं। इन मठों को शंकराचार्य ने चारो दिशाओं में स्थापित कर समग्र भारत को एक सूत्र में बाँध दिया है। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया कि देवतात्मा हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और योगेश्वर कृष्ण की पदरेणुरंजिता द्वारिका पुरी से मुक्तिधाम जगन्नाथ पुरी तक समग्र राष्ट्र एक संस्कृति में पिरोया है।

इतनी कम अवस्था में उन्होंने जितना ज्ञानार्जन किया, जितने व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया, जितने तीर्थ-क्षेत्रों की परिक्रमा की, जितने मठ स्थापित किये तथा जितने गूढ़ विषयों पर भाष्य लिखे—यह सब सोच कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

आचार्य के ग्रन्थों का निर्णय करना भी एक विषम पहेली है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि आद्य शंकराचार्य ने कितने और किन-किन ग्रन्थों की रचना की है। शंकराचार्य की कृति के रूप में २०० सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। आद्य शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित पीठों के सभी आचार्य शंकराचार्य ही कहलाते हैं। इन विभिन्न शंकरों की रचनाओं का यथावत् पार्थक्य करना नितान्त दुरूह है।

जो कुछ भी हो, इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आद्य शंकराचार्य रचित प्रमुख ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र भाष्य, एकादश उपनिषद्-भाष्य तथा गीता-भाष्य सर्वमान्य हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने स्तोत्रग्रन्थ तथा निगूढ़ वेदान्ततत्त्व को सुबोध बनाने के लिये प्रकरण ग्रंथ लिखे। इनके मोहमुद्गर के ज्ञान और प्रार्थना के ललित लयात्मक पद किसी भी गीतकार कवि के पदों को अपने शब्द-शब्द से पराजित करने में आज तक पर्याप्त है।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य की महत्ता से अभिभूत होकर बड़े-बड़े दार्शनिक पण्डितों ने उन्हें अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित किये हैं। वाचस्पति मिश्र ने उनकी वाणी को उसी प्रकार पवित्र बतलाया है, जिस प्रकार भगवती भागीरथी का जल जलसामान्य को पवित्र कर देता है। मधुसूदन सरस्वती ने उन्हें महाभारत-प्रणेता व्यास से भी महान् माना है। उनका कथन है कि व्यास अपनी सूत्ररचना द्वारा भी जिस वेदान्त को बोधगम्य नहीं कर सके उसे शंकराचार्य ने सूत्र के बिना ही सुगम बना दिया है। बंगीय विद्वान् प्रज्ञानन्द सरस्वती का कहना है कि शंकराचार्य का भाष्य अगाध सिन्धु के समान गंभीर, अटल पर्वत के समान अधृष्य, सूर्य के समान प्रोज्ज्वल और चन्द्रमा के समान सुशीतल है। विचार-तीक्ष्णता में शंकर साक्षात् सरस्वती के पुत्र, दार्शनिक क्षेत्र के सार्वभौम सम्राट्, चिन्तन-राज्य के चक्रवर्त्ती और मनीषा के महाराजाधिराज हैं।

आभारप्रदर्शन

प्रस्तुत भूमिका-लेखन में जिनके ग्रन्थों से सहायता ली गयी है, उनमें स्वामी अपूर्वानन्दजी, स्वा० राघवाचार्यजी, स्वा० आनन्दगिरिजी, आचार्य बलदेवजी उपाध्याय, डॉ० वचनदेवजी, श्री सुरेन्द्रनाथजी भौतिक तथा परिशिष्ट लेखन में डॉ० रमेशचन्द्रजी शुक्ल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। मैं इन कर्मठ विद्वानों का अतिशय आभारी हूँ। इति शुभम्।

"सन्त हंस-गुण गहहिं पय परिहरि वारि-विकार"

महाशिवरात्री
वि० सं० २०२९

विनयावनत
—जगदीशचन्द्र

विषय-प्रवेश

॥ श्रीः ॥

आत्मानात्मविवेकः

सविमर्श 'विमला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

दृश्यं सर्वमनात्मा स्याद् दृगेवात्मा विवेकिनः ।
आत्मानात्मविवेकोऽयं कथितो ग्रन्थकोटिभिः ॥ १ ॥

मन्दारहार-विगलन्मकरन्दमिश्रदानाम्बुपानरसिकालिकुलाङ्गनानाम् ।
गीतामृतेन सह मोदकमाददानो मोदान्नवान् वितनुतां गणनायको नः ॥

कुरङ्गनेत्रां शरदिन्दुवक्त्रां बिम्बाधरां चन्दनगन्धलिप्ताम् ।
दृशा गलत्कारुणिकासमान्तः सम्मोहयन्तीं त्रिजगन्मनोज्ञाम् ॥

अन्वयः—सर्वम्, दृश्यम्, अनात्मा, दृक्, एव, विवेकिनः, आत्मा, स्यात, अयम्, आत्मानात्मविवेकः, ग्रन्थकोटिभिः, कथितः ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वम्=अखिलम्, सम्पूर्णम् वा, दृश्यम्=दर्शनीयपदार्थः, अनात्मा=आत्मभिन्नम्, नश्वरं वा (स्यात् भवेत्) दृक्=द्रष्टा, विवेचको वा, एव=निश्चयेन आत्मा=नित्यम् ब्रह्मस्वरूपम् स आत्मा अस्ति, यस्य इदं भोग्यम् शरीरमस्ति, विवेकिनः=विचारशीलस्य, स्यात्=भवेत्, आत्मानात्मनोः=नित्यानित्ययोः, विवेकः विज्ञता, ग्रन्थानाम् कोट्यः ग्रन्थकोट्यः ताभिः ग्रन्थकोटिभिः=अनेकनिबन्धैः, कथितः प्रतिपादितः, अस्तीति भावः ॥ १ ॥

अनुवाद—अखिल विश्व के सम्पूर्ण दर्शनीय पदार्थ अनात्मा अर्थात् नाशवान् हैं और इन्हें देखने वाला (विवेकी ब्रह्म) ही आत्मा है। यह आत्म-अनात्म-सम्बन्धी विवेचन ग्रन्थ-कोटि से प्रतिपादित है ॥ १ ॥

निर्वचन—दृश्+य+अम्=दृश्यम्। नञ्+आत्मन्=अनात्मा। अत्+मनिन्=आत्मन्। इ+वन्=एव। विवेक+इनि=विवेकिन्, वि+विच्+घञ्=विवेकः। कथ्+क्त=कथितः। ग्रन्थ्+घञ्=ग्रंथः। कुट्+इन्=कोटिः।

विमर्श—'दृगेव' का अर्थ है—मनुष्य की आत्मा अर्थात् ब्रह्मस्वरूप परम पुरुष ही द्रष्टा है। इसी प्रकार दृश्यरूपी अनात्म से तात्पर्य है—मन से लेकर स्थूलभूत तक सारी प्रकृति। इसी आत्मा और अनात्मा अर्थात् पुरुष और मन के संयोग से ही समस्त सुख-दुःख की उत्पत्ति सम्भव है योगदर्शन के अनुसार आत्मस्वरूप पुरुष ही शुद्ध ब्रह्मरूप है; वह ज्यों ही प्रकृति अर्थात् अनात्मा के सम्पर्क में आता है और प्रकृति में प्रतिबिम्बित

होता है, त्यों ही उसे सुख अथवा दुःख की अनुभूति होने लगती है। पातञ्जलयोगसूत्र में दृश्य की परिभाषा इस तरह दी गई है—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्—पा० १८।

प्रकृतिभूतों और इन्द्रियों की समष्टि दृश्य है। भूत कहने से स्थूल, सूक्ष्म, सभी प्रकार के भूतों का और इन्द्रिय से आँख आदि समस्त इन्द्रियों का तथा मन आदि का भी बोध होता है। उनके धर्म तीन प्रकार के हैं—प्रकाश, कार्य और स्थिति अर्थात् पूर्ण जड़ता। इन्हीं को दूसरी शब्दावली में सत्त्व, रज और तम कहा गया है। समग्र प्रकृति का एकमात्र यही उद्देश्य है कि पुरुष समुदाय भोग करके विशेषज्ञ बन जाय। यही पुरुष महर्षि शंकर की आत्मा है, जिसे अस्तित्वशाली नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्वयं अस्तित्व स्वरूप है। आत्मा को ज्ञानसम्पन्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है। उसे प्रेमसम्पन्न भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्वयं ही प्रेमस्वरूप है। आत्मा को अस्तित्वशाली, ज्ञानयुक्त अथवा प्रेममय कहना सर्वथा भ्रममूलक है। वह तो स्वयं उसका स्वरूप है। प्रेम, ज्ञान और अस्तित्व आत्मा के गुण नहीं, वे तो उसके स्वरूप हैं। आत्मा जब किसी वस्तु में अनात्मभाव से प्रतिबिम्बित होती है, तभी उसे हम उस वस्तु के गुण कह सकते हैं। आत्मा उस महान् आत्मा, उस अनन्त पुरुष का स्वरूप है, जिसका न जन्म है और न मृत्यु, वह अपनी महिमा में आप विद्यमान है। इसके विपरीत ही अनात्मा है।

दार्शनिकों का कहना है कि जिनमें विवेकशक्ति है, जिनमें थोड़ी भी अन्तर्दृष्टि है, वे सुख-दुःख नाम वाली सर्वविध वस्तुओं के अन्तस्तल को देख लेते हैं और जान लेते हैं ये सुख और दुःख करोड़ों गांठ में गूँथे हुए हैं। एक ही दूसरे में परिणत हो जाता है और इनसे संसार में कोई अछूता नहीं रह पाता। ये सबके पास आते हैं। केवल विवेकी आत्मा को इसका पता रहता है कि मनुष्य का सारा जीवन ही मृगतृष्णा है, अतः वह अपनी वासनाओं की पूर्त्ति कभी नहीं कर पाता है।

पूर्ववर्णित दृश्य अर्थात् 'अनात्मा' ही प्रकृति का स्वरूप यानी विभिन्न रूपों में परिणाम—केवल उस 'दृक्' अर्थात् द्रष्टा पुरुष के ही भोग तथा मुक्ति के लिए है। तात्पर्य यह कि अनात्मा की अपनी कोई शक्ति नहीं होती, जब तक आत्मा उसके पास उपस्थित रहती है, तभी तक अनात्मा की शक्ति भी परिलक्षित होती है। चन्द्रमा का प्रकाश जैसे उसका अपना नहीं है, सूर्य से लिया गया है, अनात्मा की शक्ति भी उसी प्रकार आत्मा से प्राप्त है। योगियों के मतानुसार, सारा व्यक्त जगत अनात्मारूपी प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, पर अनात्मा का अपना कोई उद्देश्य नहीं है, केवल आत्मा को मुक्त करना ही उसका प्रयोजन है ॥ १ ॥

आत्मानात्मविवेकः कथ्यते ॥ २ ॥

व्याख्या—तत्र आत्मा—अव्यक्तम, प्रधानम्, पुरुषः, अनात्मा-व्यक्तम् महदादि-बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि एकादेशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि-एवमेतावेव-आत्मा-नात्मानौ कथ्येते तयोः विवेकः विचारः, कथ्यते-उच्यते।

अनुवाद—अब आत्मा और अनात्मा का विवेचन करते हैं।

विमर्श—'अत्मा' चिन्मय है और 'अनात्मा' मृन्मय है। मनुष्य इसी चिन्मय और मृन्मय का योग है। जो महदादिबुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों का अनुसरण करता है, वह नीचे उतरता जाता है और जो चिन्मय स्वरूप अव्यक्त प्रधानपुरुष आत्मा के चिन्तन में लीन होता है, वह अन्ततः सच्चिदानन्द को प्राप्त करता है। संक्षेप में इसे ही आत्मानात्म-भाव का विवेक कहते हैं।

महर्षि शंकर का 'आत्मानात्मभावपरक' यह चिन्तन सांख्य दर्शन से प्रभावित है। सांख्यमत में अनात्मा प्रकृति ही समस्त संसृति का निमित्त एवं उपादान कारण है। प्रकृति का यह अनात्मस्वरूप तीन प्रकार के धातुओं से निर्मित है—सत्त्व, रज एवं तम। तमःपदार्थ केवल अन्धकार स्वरूप है; जो कुछ अज्ञानात्मक और गुरु है, सभी तमोमय है। रज क्रियाशक्ति है और सत्त्व स्थिर एवं प्रकाशस्वभाव है। सृष्टि के पूर्व प्रकृति जिस अवस्था में रहती है, उसे सांख्यमतावलम्बी दार्शनिकगण अव्यक्त, अविशेष एवं अविभक्त भी मानते हैं। इनका तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में यह तीनों पदार्थ पूर्ण साम्यभाव से रहते हैं तथा इनमें नाम और रूप का कोई भेद नहीं रह जाता। फिर जब ये साम्यावस्था नष्ट होने पर विषय की स्थिति में पहुँचते हैं, तब ये तीनों पदार्थ अलग-अलग रूप से परस्पर मिश्रित होते रहते हैं। अनात्मा की इस त्रिगुणमयी प्रकृति का सर्वोच्च प्रकाश है महत् या बुद्धितत्त्व, जिसे सर्वव्यापी या सार्वजनीन बुद्धितत्व कहते हैं। प्रत्येक मानवबुद्धि इस सर्वव्यापी बुद्धितत्त्व का एक अंश मात्र है।

सांख्य-मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारे मन और बुद्धि में एक विशेष प्रकार का अन्तर है। मन विषय के आघात से उत्पन्न संवेदनाओं को भीतर ले जाकर—एकत्रित कर—बुद्धि अर्थात् व्यष्टि या व्यक्तिगत महत् के सामने रख देता है और बुद्धि उन सब विषयों का निश्चय करती है। महत् से अहंतत्त्व और अहंतत्त्व से सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। ये सूक्ष्म तत्त्व फिर परस्पर मिल कर इन बाहरी स्थूल भूतों में परिणत होते हैं, उसीसे इस स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है। इसी बुद्धि की दृष्टि से हम बद्ध हैं, पर आत्मा की दृष्टि से मुक्त हैं।

मनुष्य का यथार्थ स्वरूप ही अव्यक्त आत्मा है—जो कार्य-कारण की शृङ्खला से बहिर्भूत है। आत्मा का यह मुक्त स्वभाव ही भूत-तत्त्व के विभिन्न स्तरों में—बुद्धि, मन आदि नाना रूपों में—प्रकाशित है। 'आत्मा' इसी की ज्योति है जो सबों के भीतर से प्रकाशित है। आत्मा-अनात्मा से सम्पूर्ण स्वतन्त्र है। आत्मा जब अनात्मारूपी प्रकृति के साथ संयुक्त होती है, तभी इस संयोग के कारण दोनों ही क्रमशः द्रष्टा एवं दृश्य के रूप में लक्षित होते हैं और यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच विभिन्न रूपों में व्यक्त होता रहता है। इस संयोग का हेतु एकमात्र अज्ञान ही है। आत्मा इसी अविद्या के कारण अनात्मा के साथ संयुक्त होती है। प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही विवेक का चरम लक्ष्य है। सारे साधन का यथार्थ लक्ष्य है सदसद् विवेक—यह जानना कि आत्मा अनात्मा से भिन्न है कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान, इन में से एक-एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवनमुक्ति है ॥ २ ॥

आत्मनः किं निमित्तं दुःखम् ? शरीरपरिग्रहनिमित्तम् ।
'नेह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्तीति' श्रुतेः ॥३॥

व्याख्या—तदिह जिज्ञास्यते-आत्मनः इति । आत्मनः = ब्रह्मस्वरूपपरमपुरुषस्य किंनिमित्तम् = कस्मै प्रयोजनाय, दुःखम् = क्लेशः (भवति)। (तत्र सांख्यकारिकायाम्—दैविकम् चेति। तत्राध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्चेति । तत्राध्यात्मिकम् द्विविधम्—शारीरम् मानसञ्चेति। शारीरम् वातपित्तश्लेष्म-विपर्ययकृतम्—ज्वरातिसारादि । मानसं च प्रियवियोगाप्रियसंयोगादि । आधिभौतिकम् चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तम्—मनुष्यपशुपक्षि-सरीसृपादिस्थावरेभ्यो जरायुजाण्डजादिभ्यः सकाशादुपजायते । आधिदैविकम्—देवानाम् इदम् दैवम्, दिवः प्रभवतीति वा दैवम्, तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाशनिपातादिकम् । एवं दुःखत्रयाभिघातः आत्मनि कथम्भवेदित्याशंक्य समाधत्ते—शरीरपरिग्रहनिमित्तम्। शरीरस्य = देहस्य, परिग्रहः=धारणम् एव तस्य दुःखस्य निमित्तम् = कारणमस्तीति शेषः। तदेव व्याचष्टे—इह = संसारे, वै = इति निश्चयेन, शरीरस्य = देहस्य, सतः = विद्यमानस्य, प्रियश्च अप्रियश्च, प्रियाप्रियौ तयोः प्रियाप्रिययोः=अनुकूलप्रतिकूलयोः, अपहतिः = विनाशः, न= नहि, कुत्रापि, श्रुतेः=वेदात्, एवम् श्रूयते ॥ ३ ॥

अनुवाद—तो फिर, ब्रह्मस्वरूप आत्मा को दुःख क्यों होता है ? शरीर धारण करने के कारण। शरीरियों के लिए प्रिय एवं अप्रिय का विनाश विश्व में कहीं नहीं सुना जाता है ॥ ३ ॥

निर्वचन—अत् + मनिन् = आत्मन्। कर्तृ० ए० व० किम्। नि+मा+क्त = निमित्तम्। इदम् + ह, इशादेशः = इह। दुष्टानि खानि यस्मिन्, दुष्टं खनति—खन् + ड + दुःख् + अच् वा दुःखम्। शॄ + ईरन् = शरीरम्। परि + ग्रह् + घञ् = परिग्रहः। अस् + शतृ अकारलोपः = सतः। प्री + क = प्रियः, नञ् + प्री + क = अप्रियः। अप + हन् + क्तिन्=अपहतिः। अस् + ति = अस्ति। श्रु + क्तिन् = श्रुतिः ॥ ३ ॥

विमर्श—प्रश्न यह है कि आत्मा यदि नित्य और आनन्द स्वरूप है तो फिर उसे दुःख कैसा ? दुःख तो शरीर का है। अज्ञान, भ्रम और मायारूपी शरीर के अतिरिक्त आत्मा को दुखी कौन कर सकता है ? आत्मा के ये सारे दुःख केवल भ्रम मात्र हैं। शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले दुःख दो प्रकार के अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक (आध्यात्मिक) दुःख कहलाते हैं। इनमें वात, पित्त, कफ एवं ज्वरादि से उत्पन्न दुःख शारीरिक दुःख कहे जाते हैं तथा काम, क्रोधादि अभीष्ट विषयों की अप्राप्ति से उत्पन्न दुःख मानसिक कहे जाते हैं। भौतिक प्राणियों से उत्पन्न होने वाले दुःख आधिभौतिक हैं। इसी प्रकार अग्नि, वायु चौरादिक कष्टों को आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन दुःखों की अनुभूति शारीरिक है। कुछ पाने और कुछ होने की आकांक्षा ही तो दुःख है। दुःख कोई चाहता नहीं, लेकिन अगर आकांक्षा हो तो दुःख का विनाश कभी संभव नहीं है। किन्तु जो इन आकांक्षाओं के स्वरूप को पहचान लेता है, वह दुःख से नहीं, समस्त दुःखानुभूति से त्राण पा जाता है। उसके लिए दुःख के आगमन का द्वार ही बन्द हो जाता है।

अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही इन दुःखों के मूलकारण हैं। ये संस्कार-समूह विभिन्न मनुष्यों के मन में विभिन्न अवस्थाओं में रहते हैं। कभी ये प्रसुप्त और कभी जाग्रत रूप से पाये जाते हैं। ये संस्कार सूक्ष्म रूप से हमारे मन पर छाये रहते हैं। कभी कभी कुछ प्रबल संस्कार इन संस्कारों को कुछ समय तक के लिए दबाकर रखते हैं किन्तु, ज्यों ही इन दबाओं का भार हल्का पड़ता है, त्यों ही वे पहले के संस्कार फिर से उठ जाते हैं। इस अवस्था को विच्छिन्न कहते हैं। अन्तिम अवस्था का नाम उदार है। इस अवस्था में संस्कारसमूह अनुकूल परिस्थितियों का सहारा पाकर बड़े प्रबल भाव से आक्रान्त करते हैं और इन समस्त संस्कारों का एक मात्र कारण है अविद्या। सभी सोचते हैं—मैं शरीर हूँ, शुद्ध ज्योतिर्मय, नित्य, आनन्द रूप आत्मा नहीं—यही अविद्या है। हमलोग मनुष्य को शरीर के रूप में ही देखते और जानते हैं। यह महान भ्रम है—सारे दुःखों का मूल कारण है ॥ ३ ॥

शरीरपरिग्रहः केन भवति ? कर्मणा ॥ ४ ॥

व्याख्या—तस्य शरीरस्य=देहस्य, परिग्रहः=आदानं, धारणं वा, केन हेतुना भवतीति जिज्ञासां समाधत्ते—कर्मणा=जन्मजन्मान्तरकृतशुभाशुभकर्म-संस्कारेण शरीरबन्धनम् भवतीति। अन्यच्च वेदेऽपि कर्मणः फलम् श्रूयते—तद्यथा—आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन—'सर्वान् लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति यः अश्वमेधेन यजते।' इत्यादि ॥ ४ ॥

अनुवाद—ग्रन्थकार ने स्वयं जिज्ञासा प्रकट की है—आत्मा को शरीर का बन्धन क्यों होता है ? उत्तर—जन्मजन्मान्तर में किये गये कर्मफल भोग के लिए शरीर धारण करना पड़ता है ॥ ४ ॥

निर्वचन—शृ+ईरन्=शरीर। परि+ग्रह्+घन्=परिग्रह। किम्+टा=केन। भू+तिप्=भवति। कृ+मनिन्=कर्मन्, कर्म, तेन कर्मणा।

विमर्श—कर्म के द्वारा शरीर का बन्धन होता है, इसका तात्पर्य यह है कि यह जीव जन्मजन्मान्तर में किए हुए शुभाशुभ कर्मों के संस्कारों से बँधा है, तथा इस मनुष्य शरीर में पुनः अहंता, ममता, आसक्ति और कामना से नये नये कर्म कर के और भी अधिक जकड़ा जाता है। अतः यहाँ इस जीवात्मा को बार-बार नाना प्रकार की योनियों में जन्ममृत्यु रूप संसार-चक्र में घुमाने के हेतुभूत जन्मजन्मान्तर में किये हुए शुभाशुभ कर्मों के सञ्चित संस्कारसमुदाय का वाचक यह 'कर्मणा' पद है।

इस कर्म का प्रेरक मन है। क्योंकि मन ही जब विषय के अभिघात से उत्पन्न हुई किसी भी संवेदना को और भी अन्दर ले जाकर निश्चयात्मिका बुद्धि के सामने उपस्थित करता है। तब बुद्धि से प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया के साथ अहंभाव जाग उठता है। फिर क्रिया और प्रतिक्रिया का यह मिश्रण आत्मा के सामने उपस्थित किया जाता है। तब आत्मा इस मिश्रण को 'कर्म' के रूप में ग्रहण करता है। पाँचों इन्द्रिय, मन, निश्चयात्मिका बुद्धि और अहंकार को मिलाकर अन्तःकरण कहते हैं। ये सब मन के उपादान स्वरूप चित्त के भीतर होने वाली भिन्न-भिन्न प्रक्रियायें हैं, जिनके द्वारा 'कर्म' प्रभावित होता है।

साधक गण कर्मयोग के माध्यम से ही इस कर्मफल से मुक्ति प्राप्त करते हैं। कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों में ममता, आसक्ति और फलेच्छा का त्याग किया जा सकता है। सिद्धि और असिद्धि में सम होकर राग-द्वेष और हर्ष शोक से मानव मुक्त हो सकता है। हर्ष और शोकादि समस्त विकारों को छोड़कर मानव जन्मजन्मान्तर में किये गये कर्मों के फल से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। साथ ही समत्व बुद्धि से वर्तमान में किये जाने वाले समग्र कर्मों में फल उत्पन्न करने की शक्ति को नष्ट किया जा सकता है। काम-क्रोध, ममता आसक्ति और लोभ-मोह आदि से रहित होकर जो समतापूर्वक अपने वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार शास्त्रविहित कर्त्तव्यमात्र कर्मों का आचरण करता है, वही व्यक्ति कर्मयोग को समत्वयोग, बुद्धियोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म या सत्कर्म कहते हैं। इस कर्मयोग का अत्यल्प साधन भी 'शरीर परिग्रह' से मुक्ति दिलाने का मार्ग प्रशस्त करता है।

मनुष्य का शरीर ही बन्धन है। हम बन्धन लेकर ही उत्पन्न हुए हैं। कर्म की जंजीरों के साथ ही जगत् में हमारा प्रवेश है। कर्म के सूक्ष्म बन्धन से ही हम बँधे हैं। कर्मफल रूप शरीर जन्मजात है। इसके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। पर, कर्मफल से मुक्ति अर्जित करनी होती है। उसे वही उपलब्ध होता है, जो उसके लिए प्रयास करता है। मुक्ति के लिए मूल्य देना होता है। जीवन में सामान्यतः जो भी श्रेष्ठ है; वह निर्मूल्य नहीं मिलता। अनायास मिली देह दुर्भाग्य नहीं है। दुर्भाग्य है, इस देह से कर्मफल की मुक्ति अर्जित न कर पाना। शरीरी होना बुरा नहीं है, पर शरीर में ही आसक्त रहकर मर जाना अवश्य बुरा है ॥ ४ ॥

कर्म केन भवतीति चेत् ? रागादिभ्यः ॥ ५ ॥

व्याख्या—**कर्म = शरीरसंतोषार्थम् जन्मजन्मान्तरकृतम् कार्यम्, केन = निमित्तेन, हेतुना वा भवतीत्याशंक्य समाधत्ते—रागादिभ्यः = सुखतृष्णादिभ्यः सम्भवतीति ॥ ५ ॥**

अनुवाद—शरीर के बन्धनस्वरूप कर्म किससे प्रेरित है? राग से अर्थात् सुख प्राप्ति की तृष्णा से ही कर्म की उत्पत्ति होती है ॥ ५ ॥

निर्वचन—कृ + मनिन् = कर्मन् + तृतीया = कर्मणा, किम् + टा = केन, भू + लट् + तिप् = भवति। चेत्—इति अव्ययपदम्। रञ्ज् भावे घञ्, नलोपे कुत्वे रागः।

विमर्श—पातंजलयोगसूत्र में लिखा है—'सुखानुशयी रागः।' अर्थात् जो मनोवृत्ति केवल सुखकर पदार्थ की उपलब्धि में संलग्न रहती है, उसे ही राग कहते हैं। संसार में बहुतसी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनकी उपलब्धि में हमें क्षणिक ही सही पर सुख की अनुभूति होती है। जिस विषय में हम सुख पाते हैं—मन एक प्रवाह की तरह उसकी तत्क्षण उपलब्धि के लिए दौड़ता रहता है। सुख केन्द्र की ओर दौड़ने वाले मन के इस प्रवाह को ही राग या आसक्ति कहते हैं। इसी राग से कर्म की उत्पत्ति होती है।

किसी भी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को 'राग' कहते हैं। जिसमें उस वस्तु के अभाव की अनुभूति होते ही उसकी प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जाग पड़े। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या

अभावकल्पना के विना रागजन्य कर्म की प्रेरणा उत्पन्न नहीं होती। जब राग अप्राप्त के लिये होता है तब कर्म की प्रेरणा स्पष्ट रहती है। प्राप्त के सम्बन्ध में कर्म प्रेरणा का अंश निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है।

कर्म की कितनी इच्छा राग के पारिभाषिक क्षेत्र तक पहुँचाती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी भी कर्म की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दव जाती हैं या उनके लिए कम स्थान रह जाता है और रागात्मक प्रवृत्तियों के आधिक्य से कर्म के आधिक्य में विशेषता यह होती है कि 'राग' स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे प्राप्ति की प्रतिष्ठा के साथ-साथ राग से भिन्न अन्यवृत्तियों के लिए स्थायी अनवकाश हो जाता है। राग से भिन्न अन्य मनोविकारों में यह बात नहीं होती क्योंकि, राग का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण रागी को विषय की ओर बरावर प्रवृत्त रखता है। कर्मेच्छु कर्म की प्रेरणा पाकर ही राग से निवृत्त नहीं हो जाता है, या तो भले बुरे का सब विचार छोड़कर कर्म में तत्पर दिखाई देता है या फिर अधिक प्राप्ति में तल्लीन। इस प्रकार राग अन्यसुख वृत्तियों का स्तम्भन कर, स्वयं कर्म का प्रेरक बन जाता है।

हम जिस विषय में सुख नहीं पाते, उधर हमारा मन कभी भी आकृष्ट नहीं होता। हम कभी कभी नाना प्रकार की विचित्र चीजों में सुख पाते हैं, तो भी राग की जो विवेचना ऊपर उपस्थित की गयी है, सर्वत्र समान रूप से उपलब्ध है। हम जहाँ सुख पाते हैं, वहीं चिपट जाते हैं। राग चाहे जिस वस्तु में हो, हमारे मन में जब इसकी वृत्ति बढ़ जाती है तब हम उस वस्तु की प्राप्ति से, अथवा सान्निध्य या उपभोग से अघाते नहीं हैं। राग का रोग जब हमारे चित्त में घर कर लेता है तो प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति के लिए कर्म की प्रेरणा बढ़ती रहती है। अतः शास्त्रकारों ने लिखा है—'नास्ति रागसमं दुःखम्।' इसी राग को सांख्य शास्त्र में 'महामोह' कहा गया है। इसके आठ प्रकार के ऐश्वर्य विषय होने से सांख्यकारों ने आठ भेद माना है। मूल सूत्र में आदि शब्द इसी भेदपरता की ओर संकेत है॥ ५॥

रागादयः कस्मात् भवन्तीति चेत्? अभिमानात्॥ ६॥

व्याख्या—**रागादयः, रागः आदिर्येषाम् ते रागादयः, सुखतृष्णादयः कस्मात् कारणात् भवन्ति = जायन्ते? समाधत्ते—अभिमानात्—अहङ्कारात्। अभिमानश्च—**

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकस्यैव॥—सां० का० २४.

अनुवाद—रागादि किससे उत्पन्न होते हैं? अभिमान से।

निर्वचन—रञ्ज्+भावे घञ्, नलोपः कुत्वञ्च-रागः। आ+दा+कि = आदि। अभि+मन्+घञ्= अभिमानः॥ ६॥

विमर्श—रागादि प्रवृत्तियों की उत्पत्ति अभिमान से ही होती है। किसी भी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण सर्वप्रथम इन्द्रियों से होता है। पुनः मन में विचार उत्पन्न होता है—इस पर मेरा ही अधिकार है। यह सब मेरे लिए ही है, जो कुछ हूँ, वह मैं ही हूँ, इत्यादि

रूप से जो अभिमान प्राणिमात्र को होता है, यही असाधारण धर्म होने से अहङ्कार कहलाता है। इसी के अनुसार प्राणियों की बुद्धि कर्त्तव्य का निश्चय करती है। इस अहङ्कार से दो प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं (१) प्रकाश रूप इन्द्रियसमुदाय और (२) जड़ रूप पांच सूक्ष्म तन्मात्राएँ। पुनः प्रथम के—सात्त्विक, राजस और तामस तीन भेद हैं। सात्त्विक अहंकार से प्रकाश रूप इन्द्रियां गतिशील होकर रागादिभावों को उत्पन्न करती हैं तथा तामस अर्थात् जड़रूप अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ गतिशील होकर रागादि भावों के लिए उत्प्रेरक का काम करती है। यद्यपि राजस अहंकार का कोई स्वतन्त्र कार्य नहीं होता। फिर भी रजोगुण चञ्चल होने के कारण सत्त्व एवं तमोगुण की प्रेरणा का कार्य करता है। दार्शनिकों ने राजस अहङ्कार को उक्त दोनों जड़-प्रकाश रूप कार्यों की उत्पत्ति में कारण माना है। इन तीनों अहङ्कारों से मानव मन में विभिन्न रागों का उदय होता है।

अहङ्कार एकमात्र जटिलता है, जिन्हें रागादि से मुक्ति की कामना है—उन्हें सरल होना है,—इस सत्य को अनुभव करना है। उसकी अनुभव होते ही राग मुक्त सरलता स्वतः ठीक उसी प्रकार आ जाती है जैसे हमारे पीछे हमारी छाया। अहङ्कार और कुछ नहीं—उपलब्धि का, कुछ पाने का, कुछ होने का एकमात्र भाव है। राग का कोई भी रूप परितृप्ति को निकट जान आंखों में उसकी चमक डाल देता है और यही चमक अभिमान या अहङ्कार है। ऊपर से आवश्यकताएँ कम कर लेना ही रागरहित जीवन पाने के लिए पर्याप्त नहीं। भीतर अहङ्कार कम हो तभी रागरहित सरल जीवन के आधार रखे जा सकते हैं। वस्तुतः अहंकार जितना शून्य हो, रागादिभावनायें अपने आप ही उतनी सरल हो जाती है। जो इसके विपरीत करता है, वह अन्य प्रवृत्तियों को तो कम कर लेगा, लेकिन उसका अहङ्कार बढ़ जायेगा और परिणाम में राग की शून्यता तो दूर की बात रही—आन्तरिक जटिलता उत्पन्न होगी। इस प्रकार के नियन्त्रण से रागादिभाव मिटते नहीं, केवल एक नया रूप और वेश ले लेते हैं। अभिमान कुछ भी पाने की दौड़ से तृप्त होता है। 'और अधिक' की उपलब्धि ही उसका प्राण रस है, जो वस्तुओं के संग्रह में लगे हैं, वे भी 'और अधिक' से पीड़ित होते हैं और जो उन्हें छोड़ने में लगे हैं वे भी 'और अधिक' से पीड़ित हैं। अन्ततः ये दोनों ही दुःख और विषाद को उपलब्ध होते हैं, क्योंकि, अहंकार बिलकुल रिक्तता है। उसे किसी ओर भरा नहीं जा सकता। इस सत्य को जानकर जो उसे भरना ही छोड़ देते हैं वे ही वास्तविक सरलता को प्राप्त करते हैं।

राग साधना का घातक है। अहंकार भीतर न हो तो बाहर राग न रह जाता। लेकिन उस भूल में कभी नहीं पड़ना जाहिए कि बाहर राग न हो तो भीतर अहंकार नहीं रहेगा। राग अहंकार का नहीं, अहंकार ही राग का मूल कारण है॥ ६॥

अभिमानोऽपि कस्माद् भवति ? अविवेकात्॥ ७॥

व्याख्या—तत्र अभिमानः=अहङ्कारः, अपि चेत्, कस्मात्=किन्निमित्तात् भवति=जायते ? अविवेकात्=विचारशून्यत्वात्, भवतीति शेषः॥ ७॥

अनुवाद—अभिमान भी किससे उत्पन्न होता है ? अविवेक अर्थात् अविचार से॥७॥

निर्वचन—अभि + मन् + घञ् = अभिमानः। नञ् + वि + विक् + घञ् = अविवेकः॥

विमर्श—अभिमान की उत्पत्ति अविवेक के कारण होती है। विवेक शक्ति के अभाव में ही अविवेकी जन अन्तर्दृष्टि से हीन होते हैं। वे सुख और दुःख नामक सर्वविध वस्तुओं के अन्तस्तल को देखने और जानने में अपने को सदैव असमर्थ पाते हैं। सुख और दुःख आपस में गूँथे हैं। समय और स्थिति के परिवेश में इनके परिवर्तित रूपों को अविवेकी जान नहीं पाता। अविवेक की प्रेरणा से अहं क्रियाशील होकर मृगतृष्णा के समान आजीवन दौड़ता रहता है और कभी अपनी वासनाओं को पूर्ण नहीं कर पाता। परिणाम काल में जो असफलता रूप दुःख है, अथवा सुख के संस्कार से उत्पन्न होनेवाला तृष्णा रूप जो दुःख है—इन सब का जन्मदाता अविवेक ही है।

अविवेक अन्तस् स्वतन्त्रता को ढक देता है और इस आन्तरिक स्वतन्त्रता के विना जीवन में कुछ भी सार्थकता और कृतार्थता तक नहीं पहुँचता है। अभिमान के जाल में जो बन्दी है; और जिन्होंने विवेक का मुक्ताकाश नहीं जाना है, उन्होंने जीवन तो पाया है पर वे जीवन को जानने और जीने से वंचित रह गये हैं। पिंजड़ों में बंद पक्षियों और अभिमान के जाल में बन्द आत्माओं के जीवन में कोई भेद नहीं है। विवेक जब अभिमान से मुक्त होता है, तभी वास्तविक जीवन के जगत् में प्रवेश होता है।

अविवेक का फल है अभिमान और स्वयं को इस अभिमान से मुक्त कर लेना ही जीवन है। लेकिन, यह बड़ा कठिन है। आदमी सब कुछ छोड़ सकता है, अभिमान छोड़ने में उसके प्राण कांपते हैं। वह धन छोड़ सकता है। पत्नी बच्चों को छोड़ सकता है। सन्यासी हो सकता है। लेकिन गर्व नहीं छोड़ पाता है। नीति कहती है—

गृहक्षेत्रकलत्रादि दुस्त्यजं सर्वजन्तुभिः।
त्यक्त्वाऽपि न त्यजत्येष गर्वपर्वतमद्भुतम्॥

विवेक सत्य है। विवेक स्वभाव है। उसे कहीं से पाना नहीं है। वह उपलब्ध ही है। बस जो स्वप्न के अविवेक से मुक्त हो जाता है, वह पाता है क्यों कि वह उसे सदैव से उपलब्ध ही रहता है। वह नित्य उपलब्ध की ही उपलब्धि है और अविवेक? अविवेक कल्पित है। अविवेक अपने ही हाथों निर्मित है। वह असत्य आवरण है। अभिमान का जनक है। वह झूठी खूँटी है। वह झूठी रस्सी है। उसे जान लेना ही, उसे पहचान लेना ही, उसे समझ लेना ही जीवन—जीना है।

तथाकथित शास्त्रीय विवेक—जो कि अविवेक का ही दूसरा नाम है, अहं का मूलोच्छेद नहीं कर पाता। विवेक ने मनुष्य के अविवेक को बड़ी सुरक्षा प्रदान की है। मनुष्य में तथ्यों के प्रति असंवेदनशील होने की क्षमता विकसित करके यह किया गया है। जो व्यक्ति तथ्यों के प्रति असंवेदनशील है, वह सहज ही जीवन के प्रति अहम्मन्यता का शिकार है। तथाकथित शास्त्र कल्पनाओं, सिद्धान्तों और अनुमानों के जाल और धुयें में विवेक को ढक देता है। जीवन को जीवन के रूप में ही जानना अविवेक से मुक्ति है। अहंकार से छुटकारा है॥ ७॥

अविवेकः कस्माद् भवति? अज्ञानात्। अज्ञानं केन भवतीति चेत्? न केनापि। अज्ञानं नाम अनादि सदसद्भ्याम-

निर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति, अहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् । 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढा-मि'त्यादिश्रुतेः । तस्मादज्ञानादविवेको जायते । अविवेकाद-भिमानो जायते । अभिमानाद्रागादयो जायन्ते । रागादिभ्यः कर्माणि जायन्ते । कर्मभ्यः शरीरपरिग्रहो जायते । शरीर-परिग्रहाद् दुःखं जायते ॥ ८ ॥

व्याख्या—अविवेकः=विचारशून्यता, कस्मात्=किंनिमित्तात्, भवति=जायते अज्ञानात्=ज्ञानाभावात् । अज्ञानम् = ज्ञानशून्यम्, केन = किंकारणेन, भवति = जायते, इति चेत्=इति यदि कथ्यते, तदाह—न केनाऽपीति, नान्यत् किमपि कारण-मस्ति । अज्ञानम् = अप्रज्ञानम् नाम = नामकः (अव्यय), अनादि = आदिरहितं नित्यम्, सदसद्भ्याम् = सत्यासत्याभ्याम्, अनिर्वचनीयम् = भ्रमम्, अवर्णनीयम् वा, त्रिगुणात्मकम् = सत्त्वरजस्तमोगुणान्वितम्, ज्ञानविरोधि, ज्ञानस्य = विद्यायाः, विरोधि = प्रतिरोधि, भावरूपम् = स्थितिस्वरूपम्, यत्किञ्चित् = किमपि, इति = एवम्, वदन्ति = कथयन्ति, अहम् = अयञ्जनः, अज्ञः = ज्ञानरहितः, इत्यादि, अनुभवात् = प्रत्यक्षज्ञानात् । देवश्च (देवता) च आत्मा च (जीवश्च) तयो-शक्तिम्= सामर्थ्यम्, स्वगुणैः = निजस्वभावैः, निरूढाम् = प्रचलिताम् इत्यादि श्रुतेः (एवम् वेदाः वदन्ति) । तस्मात्, तेन हेतुना, अज्ञानात्=अविवेकात्, अविवेकः=अविचारः, जायते = उत्पद्यते, अविवेकात् = अविचारात्, अभिमानः = अहङ्कारः, जायते = भवति, अभिमानात् = अहङ्कारात्, रागादयः = सुखतृष्णाप्रभृतयः, जायन्ते = भवन्ति । रागादिभ्यः = सुख-तृष्णादिभ्यः, कर्माणि=कार्याणि, जायन्ते = उत्पद्यन्ते, । कर्मभ्यः = कृत्येभ्यः, शरीरपरिग्रहः = देहधारणम्, जायते = उत्पद्यते । शरीर-परिग्रहात् = देहधारणात्, दुःखम् = कष्टम्, जायते = भवति ॥ ८ ॥

अनुवाद—अविवेक किससे होता है ? अज्ञान से । यदि पूछें अज्ञान किससे होता है ? तो उत्तर होगा-किसी से नहीं । क्योंकि अज्ञान नाम आदिरहित अर्थात् नित्य, सद्, असद् अकथनीय; अर्थात् माया, त्रिगुणात्मक, ज्ञानविरोधी भावरूप को जो कुछ ऐसा कहते हैं—'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि, अनुभव से ही । 'देवात्मशक्ति अपने गुणों के द्वारा प्रचलित है'—ऐसा वेद भी कहता है । अतः अज्ञान से अविवेक होता है । अविवेक से अभिमान होता है । अभिमान से रागादि होते हैं । रागादियों से कर्म उत्पन्न होते हैं । कर्मों से शरीर का बन्धन होता है । शरीरबन्धन से दुःख होता है ॥ ८ ॥

निर्वचन—नञ् + वि + विक् + घञ् = अविवेकः । नञ् + ज्ञा + क० न० त० = अज्ञ । अवीस् + शतृ = सत् । नञ् + अतीस् + शतृ = असत् । नञ् + आ + दा + कि = अनादि । अ + निर् + वच् + अनीयर् = अनिर्वचनीय । नि + रुह + क्त = निरूढः । ज्ञा + ल्युट् = ज्ञानम् । वि + रुध् + घञ् = विरोधः । अनु + भू + अप् = अनुभवः ।

विमर्श—अज्ञान और दुःख एक दूसरे के साथ-कार्यकारणभाव से-सम्बन्धित हैं । संस्कार रूप जड़ अर्थात् कारण भीतर में विद्यमान रहने के कारण वे ही व्यक्त भाव

धारण कर फल के रूप में परिणत होते हैं। कारण का नाश होकर कार्य अर्थात् फल का उदय होता है। फिर कार्य सूक्ष्मभाव धारण कर बाद के कार्य का कारण स्वरूप होता है। वृक्ष बीज को उत्पन्न करता है; बीज फिर बाद के वृक्ष की उत्पत्ति का कारण बनता है। हम इस समय जो कुछ कर्म कर रहे हैं, ये समस्त पूर्व संस्कार के फल स्वरूप हैं। ये ही कर्म फिर संस्कार के रूप में परिणत होकर भावी कार्य का कारण बन जायेंगे। मानव जीवन में बस इसी प्रकार कार्य-कारण प्रवाह चलता रहता है और इस प्रवाह के मूल में मानव की अविद्यात्मक अज्ञानता है। अज्ञान की स्थिति में दुःख का होना आवश्यक है। इसे ही भगवन् शंकर ने वात्याचक्र की तरह स्पष्ट किया है आत्मा को शरीरबन्धन से कष्ट होता है। शरीर का बन्धन कर्म से होता है। कर्म की उत्पत्ति रागादि से है। रागादि अभिमान से उत्पन्न होते हैं। अभिमान अविवेक से होता है। अविवेक की उत्पत्ति अज्ञान से है और अज्ञान तो स्वतः अविद्या है। अतः अज्ञान से अविवेक और अविवेक से अभिमान, फिर अभिमान से रागादि और रागादि से कर्म की उत्पत्ति होती है, और कर्म से शरीरबन्धन और शरीरबन्धन से दुःख होता है। स्पष्ट है दुःख और अज्ञान, कार्य-कारण भाव से एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं। जहाँ अज्ञान होगा, वहाँ दुःख होगा ही॥ ८॥

दुःखस्य कदा निवृत्तिः? सर्वात्मना शरीरपरिग्रहनाशे सति दुःखस्य निवृत्तिर्भवति। सर्वात्मपदं किमर्थम्? सुषुप्त्य-वस्थायाम् दुःखे निवृत्तेऽपि पुनरुत्थानसमये उत्पद्यमानत्वाद्-वासनात्मना स्थितं भवति॥ ९॥

व्याख्या—**दुःखस्य = क्लेशस्य, कदा = कस्मिन् समये, निवृत्तिः = विश्रान्तिः भवतीति शेषः। सर्वात्मना = सर्वतोभावेन, सर्वथा, शरीरस्य = देहस्य, परि-ग्रहः = बन्धनम्, तस्य नाशे=विध्वंसे, सति, दुःखस्य = कष्टस्य, निवृत्तिः = शान्तिः, भवति = जायते। सर्वात्मपदम्, किमर्थम् = किन्निमित्तम्? सुषुप्तिः = सुप्तिः अथवा-अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिर्यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः, तस्या अवस्था-याम्=दशायाम्, दुःखे = कष्टे, निवृत्तेऽपि = विनष्टेऽपि, पुनरुत्थानसमये = पुन-र्जागरकाले, उत्पद्यमानत्वात् उपस्थितत्वात्, वासनात्मना = भावनात्मना, सूक्ष्म-रूपेण दुःखम्, स्थितम्=उपस्थितम्, भवति = जायते॥ ९॥**

अनुवाद—दुःख की निवृत्ति कब होती है? सर्वतोभावेन शरीरपरिग्रह के विनाश हो जाने पर ही दुःख की निवृत्ति होती है। सर्वथा शब्द का प्रयोग किसलिए है? प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में दुःख के विनष्ट हो जाने पर भी, फिर जगने पर उसकी उपस्थिति से भावनात्मक रूप से वह उपस्थित रहता ही है। (अतः सर्वथा शब्द का प्रयोग किया गया है)॥ ९॥

निर्वचन—किम् + दा = कदा। निर् + वृ + क्तिन् = निर्वृत्तिः। सर्व + अत् + मनिन् + टा = सर्वात्मना। शृ + ईरन् = शरीर। परि + ग्रह् + घञ् = परिग्रह। नश् + घञ्=

नाशः। दुष्टानि खानि यस्मिन्, दुष्टं खनति वा' दुः + खन् + ड, अथवा दुःख + अच् = दुःख। पद् + अच्=पदम्। सु + स्वप् + क्तिन्=सुषुप्तिः। अव् + स्था + अङ्=अवस्था। उद् + स्था + ल्युट् = उत्थानम्। सम् + इ + अच् = समय। उत् + पद् + य + शानच् + मुक् = उत्पद्यमान। वास् + णिच् + युच् + अन + टाप् = वासना। स्था + क्तिन्=स्थितिः।

विमर्श—हमने अपने ही अज्ञान के कारण अपने को एक निर्दिष्ट शरीर में आबद्ध करके अपने दुःख का रास्ता खोल रखा है। यह धारणा कि 'मैं शरीर हूँ' कुसंस्कार मात्र है। यही कुसंस्कार हमें सुखी अथवा दुखी बनाता है। अज्ञान से उत्पन्न इस कुसंस्कार से ही हम शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदिका अनुभव करते हैं। यहाँ सर्वतोभावेन शरीर परिग्रह विनाश से तात्पर्य है-शरीर के प्रति बिल्कुल ही अनासक्तभाव। हमारा यह कर्त्तव्य है कि, अपने मन के कुसंस्कार को पारकर अनासक्तभाव से शरीर और आत्मा के बीच सम्बन्ध को स्थिर करें। योगियों के द्वारा अबतक यह प्रमाणित हो चुका है कि मन की एक विशेष अवस्था में देहबोध बिल्कुल नहीं रह जाता-उस समय शरीर भले ही दग्ध होता रहे, पर जब तक मन की यह अवस्था रहती है, तबतक मनुष्य किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता।

ऐसी स्थिति में शरीर की आसक्ति का सर्वतोभावेन त्याग ही दुःखनिवृत्ति का एकमात्र साधन हो सकता है। मनुष्य इसी तथ्य से अवगत नहीं हो पाता-वह चेहरे चुराकर जीता है। जिस शरीर को वह अपना मानता है, वही उसका नहीं है। जिस व्यक्तित्व को अपना होने का दावा करता है, वही उसका नहीं है। सब उधार है। सब दिखावा है। सब चोरी है। अनन्त जन्मों से व्यक्तित्वों को चुराकर इतने मुखौटे ओढ़ रक्खे हैं कि अपना असली रूप, असली चेहरा भी पहचानना मुश्किल हो गया है। इसे बिना पहचाने, बिना जाने दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

'दुःख-निवृत्ति' के लिए सर्वतोभावेन हमें अपनी चिन्ता होनी चाहिए कि हम कौन हैं? दुःख-निवृत्ति का अर्थ ही यह है कि हम जानें कि हम कौन हैं? हम क्या हैं? हमारी देह क्या है? अपने स्वरूप को पहचानना और उसमें स्थिर हो जाना ही असली धर्म है—दुःख-निवृत्ति का सुगम मार्ग है॥ ९॥

अतस्तन्निवृत्त्यर्थं सर्वात्मपदम्। शरीरपरिग्रहनिवृत्तिः कदा भवति? सर्वात्मना कर्मणि निवृत्ते सति। कर्मनिवृत्तिः कदा भवति? सर्वात्मना रागादौ निवृत्ते सति। रागादिनिवृत्तिः कदा भवति? सर्वात्मना अभिमाने निवृत्ते सति। कदा अभिमाननिवृत्तिः? सर्वात्मना अविवेके निवृत्ते सति। कदा अविवेकनिवृत्तिः? सर्वात्मना अज्ञाने निवृत्ते सति। कदा अज्ञाननिवृत्तिः? ब्रह्मात्मैकत्वे जाते सति अविद्यानिवृत्तिः सर्वात्मना भवति॥ १०॥

व्याख्या—अतः=अस्मात् कारणात्, तस्य=दुःखस्य, निवृत्त्यर्थम्=विनाशार्थम्, सर्वात्मपदम्=सर्वात्मशब्दस्य प्रयोगः। शरीरस्य=देहस्य, परिग्रहः=धारणम्= शरीरपरिग्रहस्तस्य निवृत्तिः=विश्रान्तिः, कदा=कस्मिन् समये, भवति=जायते, सर्वात्मना=सर्वतोभावेन, कर्मणि=कार्ये, निवृत्ते सति=विनष्टे सति भवतीति शेषः। कर्मनिवृत्तिः—कर्मणः=कार्यस्य, निवृत्तिः=विनष्टता, कदा=कस्मिन् समये, भवति=जायते, सर्वात्मना=सर्वतोभावेन, रागादौ=सुखतृष्णादौ, निवृत्ते सति=विनाशमुपगते सति। रागादिनिवृत्तिः=सुखतृष्णादिसमाप्तिः, कदा= कस्मिन् काले भवति=जायते, सर्वात्मना=सर्वतोभावेन, अभिमाने=अहङ्कारे, निवृत्ते सति=निर्गते सति। कदा=कस्मिन् समये, अभिमाननिवृत्तिः=अहंकारस्य निवृत्तिर्भवति, सर्वात्मना=सर्वतोभावेन, यदा अविवेके निवृत्ते सति=अज्ञान-नाशे सति। कदा=कस्मिन् समये, अविवेकस्य=विचारशून्यतायाः, निवृत्तिः= विनाशो भवति, सर्वात्मना=सर्वथा, अज्ञाने=अविद्यायाम्, निवृत्ते सति= विनष्टे सति, कदा=कस्मिन् समये, अज्ञानस्य=अविद्यायाः, निवृत्तिः= विनाशो भवति, ब्रह्मात्मैकत्वे जाते सति=यदा ब्रह्मणा=परमात्मना सह आत्मनः= जीवस्य, एकत्वम्=समरूपता भवति तदा सर्वात्मना सर्वतोभावेन, अविद्यायाः= अज्ञतायाः, निवृत्तिः=विनाशः, भवति=जायते ॥ १० ॥

अनुवाद—अतः दुःख-निवृत्ति के लिए सर्वात्म-पद का प्रयोग किया है। शरीर परिग्रह की निवृत्ति कब होती है? सर्वतोभाव से जब कर्मों की निवृत्ति हो जाती है। कर्मों की निवृत्ति कब होती है? सब तरह से जब राग प्रभृति की निवृत्ति हो जाती है। रागों की निवृत्ति कब होती है? जब अभिमान का बिल्कुल विनाश हो जाता है। अहंकार की निवृत्ति कब होती है? अविवेक का जब पूर्ण विनाश हो जाता है। अविवेक कब नष्ट होता है? अज्ञान का जब सर्वथा विनाश हो जाता है। अज्ञान की निवृत्ति कब होती है? जब जीव और ब्रह्म में एकत्व का भान होता है, तभी हर तरह की अविद्या का स्वतः विनाश हो जाता है ॥ १० ॥

निर्वचन—इदम्+तसिल्=अतः। निन्+वृ+क्तिन्+अर्थम्=निवृत्त्यर्थम्। सर्व+अत्+मनिन्=सर्वात्म, पद्+अच्=पदम्। किम्+दा=कदा। कृ+मनिन्= कर्म। वृंह्+मनिन्, नकारस्याकारे ऋतो रत्वम्।

विमर्श—यह सत्य है कि ब्रह्म के साथ जीव की एकरूपता के विना दुःख की निवृत्ति बिल्कुल असंभव है। फिर भी इस समत्व बुद्धि की उपलब्धि के लिए सर्वप्रथम हमें अन्तर्ज्ञान को जगाना होगा। यह ज्ञान हमारे भीतर तो निहित हैं किन्तु, उसे एक दूसरे ज्ञान से ही जागृत करना पड़ता है। इस आन्तरिक ज्ञान का उन्मेष एक दूसरे ज्ञान के सहारे ही हो सकता है।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग अर्थात् दृश्य प्रपंच से आत्मा का जो अज्ञान जनित अनादि सम्बन्ध है, वही सांसारिक दुःखों का मूल कारण है। उसका अभाव हो जाने पर ही दुःखों का भी सदा के लिए अभाव हो जाता है। और इस उपलब्धि के लिए जीव को ब्रह्म के साथ एकत्व का बोध भी होना आवश्यक है। जीव और ब्रह्म के बीच जब समत्व की भावना उत्पन्न होती है तब जीव के शरीर, वचन और मन से जो कुछ भी क्रिया

होती हैं, उसकी दृष्टि में सब एकमात्र ब्रह्म के ही साथ होती है। समत्व बुद्धि उत्पन्न होने के बाद वह किसी की सेवा करता है, तो वह ब्रह्म की सेवा करता है, किसी को सुख पहुँचाता है तो वह भी उसका ब्रह्म को अर्पित होता है।

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः प्रकृति को वशीभूत करके जीव के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही मानवजीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान इनमें से एक-एक में अधिक, या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्म भाव व्यक्त कर दुःख से मुक्त होना ही जीवन लक्ष्य है। यही ब्रह्म और जीव का समभाव दुःखनाश का एकमात्र कारण है। अन्य सारी क्रियायें गौण हैं ॥ १० ॥

ननु नित्यानाम् कर्मणां विहितत्वात् नित्येभ्यः कर्मभ्यो अविद्यानिवृत्तिः स्यात् किमर्थं ज्ञानेन, इत्याशङ्क्य न कर्मादिना अविद्यानिवृत्तिः । तत्कुत इति चेत् ? कर्मज्ञानयोर्विरोधो भवेत् ॥ ११ ॥

व्याख्या—ननु=इति प्रश्नार्थे अव्ययम्, नित्यानाम्=शाश्वतानाम्, कर्मणाम्=कृत्यानाम्, विहितत्वात्=व्यवस्थितत्वात्, नित्येभ्यः=अविनश्वरेभ्यः, कर्मभ्यः=कार्येभ्यः, अविद्यानिवृत्तिः=अज्ञानविनाशः, स्यात्=भवेत्, किमर्थम्=कस्मै प्रयोजनाय, ज्ञानेन=सुबोधेन, इत्याशंक्य=एवं शङ्काम् विधाय, समाधत्ते—कर्मादिना=अर्जितकृत्यादिना, अविद्यानिवृत्तिः=अज्ञानविनाशः, न भवति, तत्कुतः इति चेत्=तत्कथमिति चेत्, कर्मज्ञानयोः=पूर्वार्जितकर्मविद्ययोर्मध्ये, विरोधः=प्रतिरोधः, भवेत्=स्यात् ॥ ११ ॥

अनुवाद—अब प्रश्न यह है कि 'शाश्वत कर्मों के विधान से अविनाशी कर्मों के द्वारा ही जब अज्ञान का विनाश हो ही जायेगा तो फिर ज्ञान की क्या आवश्यकता ? उत्तर देते हैं—अर्जित कर्मादि के द्वारा अज्ञान का विनाश नहीं होता, क्योंकि कर्म और ज्ञान के बीच विरोध की संभावना है ॥ ११ ॥

निर्वचन—नि+त्यप्=नित्य। वि+धा+क्त=विहित। ज्ञा+ल्युट्=ज्ञान। वि+रुध्+घञ्=विरोध।

विमर्श—कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि भ्रम में पड़े लोग ज्ञान को उपलब्ध नहीं करते। ऐसे लोग अज्ञान में ही जीते हैं और अज्ञान में ही मर जाते हैं। बात बड़ी जटिल प्रतीत होती है। किन्तु, यह सत्य है कि जिस व्यक्ति को अपने अज्ञान का परिपूर्ण बोध हो जाता है, उसके जीवन में ज्ञान का उदय अपने आप हो जाता है। लेकिन यह ज्ञान अनुभूति से उपलब्ध होता है—शब्दों के आडम्बर से नहीं। अपने प्राणों के साक्षात् से जो ज्ञान मिलता है वह बात कुछ और है। ऐसे ज्ञान की अनुभूति के लिए, अपने अज्ञान का स्पष्ट बोध होना अत्यावश्यक है।

इसी का दूसरा नाम है जीवन। जीवन के सर्जन में प्रथम स्थान इसी कर्म का है। जीवन के प्रति धन्यता का बोध कराने वाला भी यहीं कर्म है मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा जो समस्त क्रियायें की जाती हैं—उनका वाचक कर्म है। 'कर्म' उपर्युक्त तीनों

क्रियाओं का संग्रह है। मनुष्य स्वयं कर्त्ता बन कर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा क्रिया करके किसी कर्म को करता है, इसके बिना कोई कर्म नहीं हो सकता। अतः कर्म पद यहाँ मन, वाणी और शरीर द्वारा जितने भी पुण्य और पाप हैं, उनका—जिनका इस जन्म तथा जन्मान्तर में जीवों को फल भोगना पड़ता है—वाचक है।

ज्ञान की प्रक्रिया है अखण्डता में और संश्लेषित होने में इसी तरह कर्म की प्रक्रिया है खण्ड-खण्ड होने में, विशिष्ट होने में, टूट जाने में। कर्म जो भी मार्ग पकड़ेगा, चाहे पुण्य का हो या पाप का, अन्त में मृत्यु हाथ में आयेगी। इसलिये कर्म मृत्युदायक है, पीड़ा पालक है। ज्ञान मुक्तिदायक है। अतः कर्म और ज्ञान के बीच विरोध है ॥ ११ ॥

अतो ज्ञानेनैव अज्ञाननिवृत्तिः। तज्ज्ञानं कुत इति चेत्? विचारादेव भवति। आत्मानात्मविवेकविषयविचाराद् भवति। तस्मिन् विचारे को वा को वा अधिकारी? साधनचतुष्टय-सम्पन्नोऽधिकारी। साधनचतुष्टयं नाम—१ नित्यानित्यवस्तु-विवेकः, २ इहामुत्र फलभोगविरागः, ३ शमादिषट्सम्पत्तिः, ४ मुमुक्षुत्वञ्चेति। नित्यानित्यवस्तुविवेको नाम, ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्यैवेति निश्चयः। इह अस्मिन् लोके देहधारणव्यतिरिक्त-विषये स्रक्चन्दनवनितादिसम्भोगे वान्ताशनमूत्रपुरीषादौ यथा इच्छा नास्ति, तथा इच्छाराहित्यमिति इहलोकविरागः। अमुत्र स्वर्गलोकादिब्रह्मलोकान्तर्वर्तिषु रम्भोर्वश्यादिसम्भोगादिविषयेषु तद्वत्। शमादिषट्कं नाम, शम-दमोपरति-तितिक्षा-समाधानं श्रद्धा। शमो नाम अन्तरिन्द्रियनिग्रहः। अन्तरिन्द्रियं नाम मनः। तस्य निग्रहः श्रवणमनननिदिध्यासनव्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवृत्तिः। श्रवणादौ वर्त्तमानत्वं वा शमः। श्रवणं नाम षड्विध-लिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीयवस्तुनि तात्पर्यावधारणम् ॥ १२ ॥

व्याख्या—अतः = अस्मात् कारणात्, ज्ञानेनैव = विद्ययैव, अज्ञाननिवृत्तिः = अविद्याशान्तिः। तत् = तर्हि, ज्ञानम् = विद्या, कुतः = कस्मादिति चेत्? विचारा-देव = विमर्शादेव, भवति = जायते। आत्मानात्मविवेकविषयः = जीवब्रह्मसम्बन्धी पदार्थः, तस्य विचारात् = विमर्शात्, भवति = जायते। तस्मिन् विचारे = तत्सम्ब-न्धिविमर्शे, को वा का वा = कः कः पुरुषविशेषो वा, अधिकारी = उपयुक्तपुरुषः, साधनचतुष्टयसम्पन्नः—साधनानाम् = उपकरणानां, चतुष्टयम् = चत्वारोऽवयवा विधा अस्येति चतुष्टयम् = चतुर्विधम्, तेन सम्पन्नः = युक्त, यः पुरुषविशेषः, स एव

अधिकारी=उपयुक्तपुरुषः। साधनचतुष्टयम् = चतुर्विधोपकरणम्, नाम = संज्ञार्थकमव्ययम्।

तत्र प्रथमस्तु—नित्यम् = शाश्वतम्, च, अनित्यम् = भङ्गुरञ्च, यद् वस्तु = पदार्थः, तस्य विवेकः = विचारः।

द्वितीयस्तु—इह = अस्मिन् लोके, अमुत्र = परलोके, प्राप्तव्यफलम्, परिणामम्, तस्मिन् विरागः = उपरतिः स्नेहाभावो वा।

तृतीयस्तु—शमादिः = शमः = शान्तिः, आदिर्येषां ते शमादयः। तेषां षण्णां सम्पत्तिः = ऐश्वर्यम्।

चतुर्थस्तु—मुमुक्षुत्वम् = मोक्तुम् इच्छुः मुमुक्षुः, तस्य भावः मुमुक्षुत्वम्।

तत्र क्रमशः व्याख्यायते—नित्यानित्यवस्तुविवेको नाम—विवेकिनस्तु मन्यन्ते, ब्रह्म एव = परमपुरुष एव अस्मिन् लोके सत्यम् = यथार्थमस्ति, तद्भिन्नमखिलम् जगत् = विश्वम्, मिथ्या एव = असत्यमेव इति निश्चयः=एवम् निष्कर्षः।

इह = अस्मिन् लोके, देहधारणव्यतिरिक्तविषये–देहस्य = शरीरस्य, धारणम् = परिग्रहः, तद्व्यतिरिक्ते = तद्भिन्ने विषये = पदार्थे, स्रक् = माला, चन्दनम् = मलयपर्वतसमुत्पन्नकाष्ठविशेषः, सुरभिपदार्थः, वनितादिः = पत्न्यादिः, सम्भोगे = रतौ, वान्तम् = प्रच्छर्दितम्, अशनम = भोजनम्, मूत्रं = प्रस्रावः, पुरीषं = गूथम्, आदीनि यस्य सः, तस्मिन् पदार्थे, यथा = येन प्रकारेण, इच्छा = अभिलाषः नास्ति = न भवति, तथा = तेन प्रकारेण—इच्छाराहित्यम् = अभिलाषशून्यत्वमिति—इहलोकविरागः।

एवञ्चामुत्र अर्थात् स्वर्गलोकः आदिः येषां ते स्वर्गलोकादयः, ते च ते, ब्रह्मलोकः अन्तः येषां ते स्वर्गलोकादिब्रह्मलोकान्ताः, तेषु वर्तितुं शीलं येषां ते तथोक्ताः, तेषु। रम्भोर्वश्यादिसंभोगादिविषयेषु = रम्भोर्वश्याद्यप्सरस्त्रीरतिप्रभृतिपदार्थेषु तद्वत् = पूर्ववदिति शेषः। एवम् प्रकारेण, शमादीनां षट्कम् = षट्संख्यकम्, नाम, यथा—शमः = शान्तिः, दमः = इन्द्रियनियन्त्रणम्, उपरतिः = विरक्तिः, तितिक्षा = द्वन्द्वसहनम्, समाधानम = भावचिन्तनम्, श्रद्धा = निष्ठा।

किं तावत शमः—व्याख्यायते शमो नाम—अन्तरिन्द्रियम् = ज्ञानोपलम्भकं करणं, तस्य निग्रहः = नियंत्रणम्, अन्तरिन्द्रियम् नाम मनः = मन्यते अनेन मनः करणे असुन् = प्रज्ञेति भावः, तस्य = मनसः निग्रहः=नियंत्रणम्, श्रवणम् = श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यम्, मननम् = गहनचिन्तनम्, निदिध्यासनम् = निरन्तरचिन्तनम्, एतेभ्यः व्यतिरिक्ताः = भिन्नाः ये विषयाः तेभ्यः विषयेभ्यः = पदार्थेभ्यः निवृत्तिः = परावर्तनम्। श्रवणादौ वर्तमानत्वम् वा शमः=शान्तिः। श्रवणञ्च किं तावदिति कथ्यते—श्रवणम् नाम षड्विधलिङ्गैः = उपक्रमादितात्पर्यग्राहकैः साधनैः अशेषवेदान्तानाम् = अखिलवेदान्तवचसाम्, अद्वितीयवस्तुनि=निर्विशेषब्रह्मणि, तात्पर्यम् = अभिप्रायः, तस्य अवधारणम्=निश्चयः॥१२॥

अनुवाद—अतः ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति संभव है। वह ज्ञान कहाँ से प्राप्त होगा? विचार से ही। वह ज्ञान आत्मा और अनात्मा के विवेक विषय विचार से प्राप्त होता है। इस विचार का कौन अधिकारी है? साधनचतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही

इस विचार का अधिकारी है ? साधनचतुष्टय क्या है ? यह चार है। प्रथम—नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, द्वितीय—लोक-परलोक में प्राप्तव्य फलों के प्रति विराग, तृतीय— शमादिक छः सम्पत्तियाँ और चतुर्थ—मोक्ष के प्रति तीव्र उत्कंठा। (अब क्रमशः इन चारों की व्याख्या करते हैं) नित्यानित्य-विवेक क्या है ? 'ब्रह्म सत्य है और संसार मिथ्या है' ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि ही नित्यानित्य-विवेक है।

इस संसार में देहधारण के अतिरिक्त विषय में माला, चन्दन एवं वनितादि-संभोग में, वान्त, भोजन मलमूत्रादि के परित्याग में जैसे 'इच्छा नहीं है' ऐसी 'इच्छा का अभाव' ही 'इहलोक-विराग' है।

स्वर्ग एवं ब्रह्मलोकादि में निवास करने वाली रम्भा, उर्वशी आदि के संभोगादि विषय में पूर्ववत् अनिच्छा अमुत्र विराग है।

शमादि छः हैं, क्रमशः—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा। अन्तर् इन्द्रियों पर नियंत्रण 'शम' है। अन्तरिन्द्रिय मन को कहते हैं। उस पर नियंत्रण ही 'अन्तरिन्द्रियनिग्रह' है। निवृत्ति से तात्पर्य है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन से अतिरिक्त विषयों से निवृत्ति, अथवा श्रवणादि में जो वर्तमान है वही शम है। श्रवण से छः प्रकार के लिङ्गों के द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तों के अद्वितीय वस्तु से तात्पर्य समझना चाहिए ॥ १२ ॥

निर्वचन—चत्वारोऽवयवा विधा अस्य इति चतुर्शब्दात् तयप् = चतुष्टयः। सम् + पद् + क्त = सम्पन्नः। नाम इति संज्ञार्थकमव्ययपदम्। इदम् + ह= इशादेश इह (अव्यय) अदस् + तसिल्=अमुत्र। वि + रञ् + घञ् = विरागः। शम् + घञ्=शमः। मुच् + सन् + उ + त्व=मुमुक्षुत्वम्। वि + अति + रिच् + क्त = व्यतिरिक्तः। वि + सि + अच् + षत्वम्=विषयः। चन्द + णिच् + ल्युट् = चन्दनम्। वन + क्त + टाप्= वनिता। सम् + भुज् + घञ्=सम्भोगः। वम् + क्त=वान्तः। अश् + ल्युट्=अशनम्। मूत्र् + घञ्=मूत्रः। पॄ + ईषन् + किच्च = पुरीषः। दम् + घः=दमः। उप् + रम् + क्तिन्= उपरतिः। तिज् + सन् + अ + टाप् + द्वित्वम्=तितिक्षा। सम् + आ + धा + ल्युट् = समाधानम्। श्रद् + धा + अङ् + टाप=श्रद्धा। अम् + अरन् + तुडागम=अन्तर्। इन्द्र + घ + इय=इन्द्रियः। नि + ग्रह् + अप्=निग्रहः। मन् + ल्युट् = मननम्। श्रु + ल्युट् = श्रवणम्। नि + ध्यै + सन् + ल्युट्=निदिध्यासनम्। लिङ्ग् + अच्=लिङ्गम्। तत्पर + ष्यञ्=तात्पर्यम्। अव + धृ + णिच् + ल्युट्=अवधारणम् ॥ १२ ॥

विमर्श—मित्रों का स्नेह, सन्तान का प्रेम पति-पत्नी की आविलप्रीति धीरे-धीरे क्षीण होकर एक दिन विनष्ट हो जाता है। यही विनाश इस विश्व का धर्म है। यह सर्वस्पर्शी विनाश विश्व के किसी भी वस्तु को अछूता नहीं छोड़ता। जब विश्व की समस्त वासनाओं से व्यक्ति निराश हो जाता है तभी लुटा-सा, आश्चर्य-चकित सा, मानो स्वप्न से जगकर, भ्रम से मुक्त होकर—'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' के रहस्य को जान पाता है। तभी वैराग्य की एक हल्की किरण उसके हृदय में फैलती है; और वह जगदातीत सत्ता की थोड़ी झलक पाता है। न केवल इस संसार को बल्कि पारलौकिक फलेच्छा छोड़ने पर ही—वह परमतत्त्व हृदय में उद्भासित होता है। इन्द्रियजन्य सुख भोगों का त्याग ही उस परम पद का विशिष्ट पथ है। विवेक और विराग के बिना ऐसे कोई

महात्मा नहीं हुए जिन्हें यह उच्चावस्था प्राप्त हुई हो। साधन-चतुष्टय में सम्पन्न व्यक्ति ही इस पक्ष का सच्चा अधिकारी है।

विवेक और विराग ये दो शक्तियाँ 'साधन-चतुष्टय' की सारी कार्य-प्रवृत्तियों की नियामिका हैं। एक है हमारी अपनी अभिज्ञता और दूसरी है, दूसरों से प्राप्त अनुभूति। ये दो शक्तियाँ हमारे चित्त में अनेकानेक शुभ्र तरंगे उत्पन्न करती रहती हैं। इन्द्रियाँ मन की ही विभिन्न अवस्था मात्र हैं। ये दो भागों में विभक्त हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ये इन्द्रियाँ हमारी सभी संवेदनाओं एवं कार्यों का केन्द्र हैं। विवेकी जन सर्वप्रथम इन्हें नियंत्रित करने की चेष्टा करते हैं। विवेक शक्ति के द्वारा ये नियंत्रित इन्द्रियाँ जब पूरी तरह पराजित हो जाती हैं, तब एक-एक स्नायु, एक-एक मांस-पेशी तक वशवर्त्ती हो जाते हैं। मनुष्य के सारे कार्य और समग्रभाव संयत हो जाते हैं। सारा शरीर अधीन बन जाता है। विवेक-शक्ति के द्वारा ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाने पर ही कोई व्यक्ति मनुष्य-देह धारण करने में आनन्द अनुभव कर सकता है। तभी वह सत्यतापूर्वक कह सकता है—'मैं धन्य हूँ जो मेरा जन्म हुआ।'

दूसरी शक्ति है वैराग्य—इस उच्चतम शक्ति का विकास तब संभव है जब मनुष्य गुणों के प्रति अपनी आसक्ति भी छोड़ देता है। गुण से तात्पर्य है—सत्त्व, रज और तम। विश्व की सारी वस्तुएँ, सारा का सारा प्रपञ्च ही तीनों शक्तियों के विभिन्न ताल-मेल से उत्पन्न हुआ है। संसारी लोगों का अनुभव बतलाता है कि विषय-भोग ही जीवन का चरम लक्ष्य है। ये भयानक प्रलोभन हैं। इन प्रलोभनों के प्रति पूर्णतया उदासीन हो जाना और उन सबों से प्रभावित होकर मन को तद्रूप वृत्ति के आकार में परिणत न होने देना ही वैराग्य है। स्वयं अपने अनुभव किये हुए और दूसरे के अनुभव किए हुए विषयों से हममें जो दो प्रकार की कार्य-प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें दबाना और इस प्रकार चित्त को उनके वश में नहीं आने देना ही सच्चा वैराग्य है। वे सब मेरे अधीन रहें, मैं उनके अधीन न होऊँ—इस प्रकार के मनोबल को वैराग्य कहते हैं। यही वैराग्य मुक्ति-पथ का सच्चा सम्बल है ॥ १२ ॥

षड्विधलिङ्गानि तु उपक्रमोपसंहाराभ्यास-फलापूर्वतार्थवादोपपत्त्याख्यानि। प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः एकमेवाद्वितीयमित्यादौ ऐतदात्म्यमित्यन्ते च प्रतिपादनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्। फलन्तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र तत्र आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव

चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये इति अद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं फलं श्रूयते। अपूर्वता तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणम् ॥ १३ ॥

व्याख्या—षड्विधानि = षट्संख्याकानि, लिङ्गानि किञ्च लिङ्गम्-लययुक्तं, लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते तानि एकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे स च बुद्धौ स च प्रधाने लयं यातीति। तेन च लिङ्गयति ज्ञापयति, इति लिङ्गम् अर्थात्— ज्ञापकम्, तु = इति अव्यये, उपक्रमः = प्रारंभः, उपसंहारः = समाप्तिः, अभ्यासफलम् = आवृत्तिपरिणामः, अपूर्वता = अभूतपूर्वता, अर्थवादः = अर्थम् आशयम् वदतीति अर्थवाद; उपपत्तिः = युक्तियुक्तिः, इति आख्या येषां तानि तथोक्तानि। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य—प्रसंगप्रागभिधेयस्य अर्थस्य = आशयस्य, आद्यन्तयोः=पूर्वापरयोः, उपपादनम् = स्थापनम्, उपक्रमोपसंहारौ = प्रारम्भान्तौ। तस्य यथा = येन प्रकारेण, छान्दोग्ये=छन्दोगोपनिषदि, षष्ठाध्याये=षष्ठप्रकरणे, प्रकरणप्रतिपाद्यस्य= प्रसङ्गप्राप्तविषयस्य, अद्वितीयवस्तुनः = निर्विशेषब्रह्मणः, एकमेव = एकाकि एव अद्वितीयम् इत्यादौ, ऐतदात्म्यम् = एतत्स्वरूपम्, अन्ते = समाप्तिकाले, च = पुनः, प्रतिपादनम् = स्थापनम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य = प्रसंगोपात्तस्य, तन्मध्ये = तदन्तराले, पौनःपुन्येन = पुनः पुनः, प्रतिपादनम् = कथनम्, अभ्यासः=आवृत्तिः। यथा = येन प्रकारेण, तत्रैव = तस्मिन्नेव स्थाने, अद्वितीयवस्तुनः एकाकिपदार्थस्य, मध्ये = मध्यस्थाने, 'तत्त्वमसि' त्वं निर्विशेषब्रह्म भवसि, इति = इत्थम्, नवकृत्वः = नववारम्, प्रतिपादनम् = स्थापनम्। फलन्तु = परिणामस्तु, प्रकरणप्रतिपाद्यस्य = प्रसङ्गप्राप्तविषयस्य, 'आत्मज्ञानस्य' = आत्मविषयविवेकस्य, तदनुष्ठानस्य = तत्कार्यनिष्पादनस्य, वा = अथवा, तत्र = तस्मिन् स्थाने, श्रूयमाणम् = आकर्ण्यमानम्, प्रयोजनम् = फलम्, यथा = येन प्रकारेण, तत्र तत्र = तस्मिन् तस्मिन् स्थाने, आचार्यवान् = गुरूपसर्पणकर्ता, पुरुषः = पुरुषविशेषः, वेद=जानाति, तस्य = विलक्षणस्य, तावदेव = तावत्कालमेव, चिरम्=विलम्बः, यावत्=यावत्कालपर्यन्तम्, न = नहि, विमोक्ष्ये=मुक्तो भविष्यामि, अथ = अनन्तरम्, सम्पत्स्ये = सम्यक् प्रकारेण पत्स्ये = ज्ञास्यामि, इति = एवं, अद्वितीयवस्तुज्ञानस्य = निर्विशेषब्रह्मणः तत्प्राप्तिः = तस्योपलब्धिः, प्रयोजनम्=फलम्, श्रूयते = ज्ञायते, अपूर्वता = नवीनता, तु = किन्तु, प्रकरणप्रतिपाद्यस्य = प्रसंगप्राप्ताभिधेयस्य, अद्वितीयवस्तुनः = निर्विशेषब्रह्मणः, प्रमाणान्तराविषयीकरणम् = ईदृशं निर्विशेषं ब्रह्म वेदातिरिक्तः प्रमाणविषयो न भवति इति यावत् ॥ १३ ॥

हिन्दी—लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक छः प्रकार के हैं :—उपक्रम, उपसंहार, अभ्यासफल, अपूर्वता, अर्थवाद और उपपत्ति। प्रसंगवश प्रतिपाद्य अर्थ के आदि और अन्त में जो उपपादन है वह क्रमशः उपक्रम और उपसंहार है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का अद्वितीय अर्थात् एक ही इत्यादि में 'ऐसे गुण युक्त' ऐसा अन्त में प्रतिपादित है। प्रसङ्गप्राप्त प्रतिपाद्य के बीच में उसका बार-बार प्रतिपादन अभ्यास अर्थात् आवृत्तिमात्र है। जैसे वहाँ ही 'अद्वितीय वस्तु' के बीच में

'तत्त्वमसि' यह एक नवीन प्रत्यय का प्रतिपादन है। फलतः प्रकरणप्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा उसके अनुष्ठान का वहाँ ही श्रूयमाण प्रयोजन है। जैसे उन्हीं-उन्हीं स्थानों में 'आचार्यवान पुरुष जानते हैं' इसका तभी तक स्थायित्व है, जब तक मुक्ति न हो जाय, इसके बाद घटित होगा। ऐसा अद्वितीय वस्तु ज्ञान का तथा उसकी प्राप्ति का प्रयोजन फल सुना जाता है। उसकी अपूर्वता तो प्रकरणप्रतिपाद्य अद्वितीय पदार्थ का प्रमाण मध्य में ही विषयीकृत है ॥ १३ ॥

निर्वचन—तुद्+डु=तु। उप्+क्रम्+घञ्=उपक्रमः। उप्+सम्+हृ+घञ्+ उपसंहारः। अभि+अस्+घञ्=अभ्यासः। ऋ+थन्+वद्+घञ्=अर्थवादः। उप्+पद्+क्तिन्=उपपत्तिः। प्र+कृ+ल्युट्=प्रकरणम्। प्रति+पद्+णिच्+ल्युट्= प्रतिपादनम्। ऋ+थन्=अर्थः। उप्+पद्+णिच्+ल्युट्=उपपादनम्। इ+कन्= एकः। एतदात्मन्+ष्यञ्=ऐतदात्म्यम्। मन्+यत् तस्य धः मध्ये। तत्+त्वं=तत्त्वम्। नु+अप्=नवः। अनु+स्था+ल्युट्=अनुष्ठानम्। प्र+युज्+ल्युट्=प्रयोजनम्। विद्+घञ्, अच् वा=वेदः। यत्+वतुप्+आत्वम्=यावत्। प्र+मा+ल्युट्= प्रमाणम् ॥ १३ ॥

यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्। प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा अत्रोत-तमादेशमप्राक्षीः येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातमिति अद्वितीयवस्तुप्रशंसनम् ॥ १४ ॥

व्याख्या—**यथा=येन प्रकारेण, तत्रैव=तस्मिन्नेव स्थले, अद्वितीयवस्तुनः= निर्विशेषब्रह्मणः। मानान्तराविषयीकरणम्=अन्यप्रमाणागोचरता। प्रकरण-प्रतिपाद्यस्य=प्रसंगप्राप्तप्रतिपाद्यस्य, तत्र-तत्र=तस्मिन् तस्मिन् स्थाने, प्रशंसनम्= प्रशस्तिः, अर्थवादः=अनुष्ठानविधेः अनुशंसा। यथा=येन प्रकारेण, अत्र= अस्मिन् स्थाने, उत=आहोस्वित्, तम्=विशिष्टम्, आदेशम्=निर्देशम्, अप्राक्षीः= अपृच्छः, येन=तत्त्वेन, अश्रुतम्=अवर्णितम्, श्रुतम्=ज्ञातम्, भवति=जायते, अमतम्=अननुभूतम्, अज्ञातं वा मतम्=चिन्तितम्, ज्ञातम् वा, भवति= जायते, अविज्ञातम्=अज्ञातं, विज्ञातम्=विदितम्, भवति=जायते, इति=एवं, अद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्=निर्विशेषब्रह्मस्तुतिवचनम् ॥ १४ ॥**

हिन्दी—जैसे वहां ही उस अद्वितीय वस्तु के प्रमाण के बीच में विषयीकरण है। प्रकरणप्रतिपाद्य का उन-उन स्थानों में प्रशस्ति कथन ही अर्थवाद है। जैसे संदेहार्थ यहाँ उस निर्देश के प्रति पूछा गया—जिससे वर्णित वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है, अननुभूततत्व अनुभूत हो जाता है, अज्ञात परमात्मा भी ज्ञात हो जाता है—यही उस अद्वितीय वस्तु की प्रशस्ति है ॥ १४ ॥

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचा-

रम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादौ अद्वितीय-वस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते ॥१५॥

व्याख्या—प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने=प्रसंगप्रतिपाद्याभीष्टनिष्पादने, तत्र=तस्मिन् स्थाने, श्रूयमाणा=श्रवणगोचरीक्रियमाणा, युक्तिः=तर्कः, उपपत्तिः, यथा=येन प्रकारेण, तत्र = तस्मिन् स्थाने, सौम्य=शान्त, एकेन, मृत्पिण्डेन = मृत्तिकाखण्डेन, सर्वम् = सकलम्, मृन्मयम् = मृत्तिकानिर्मितम् घटशरावादि, विज्ञातम् = विदितम्, स्यात् = भवेत्, वाचारम्भणम् = वचनप्रपञ्चः, विकारः = कपालशरावादि-कार्यजातम्। नामधेयम् = घटः शरावः इत्यादि नामैव, वस्तुतः मृत्तिकेत्येव = मृत् केवलं, घटशरावादीनां मृत्स्वरूपत्वात्, सत्यम् = अबाधितम्। उपादानज्ञाने उपादेयं स्वयमेव ज्ञातं भवति। विकारस्य = विकृतेः वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः = तर्कः, श्रूयते = ज्ञायते ॥ १५ ॥

प्रकरणप्रतिपाद्य के अर्थसाधन में यहाँ श्रूयमाण तर्क की उत्पत्ति है। जैसे सोम सम्बन्धी एक मिट्टी के खण्ड से सब कुछ मिट्टी की है—ऐसा जाना जाता है; वाचारम्भण तो विकार नामधेय है, मिट्टी ही सत्य है, इत्यादि में अद्वितीय वस्तु के साधन में, विकार का वाचारम्भण मात्रत्व में युक्ति सुना जाता है ॥ १५ ॥

निर्वचन—मन् + घञ् = मानः। प्र + शंस् + ल्युट् = प्रशंसनम्। आ + दिश् + घञ् = आदेशः। श्रु + क्त = श्रुतः। मन् + क्त = मतम्। वि + ज्ञा + क्त = विज्ञातः। साध् + णिच् + ल्युट्=साधनम्। उप् + पद् + क्तिन् = उपपत्तिः। वाक् + आप् = वाचा। आ + रभ् + ल्युट्, आरम्भणम्। वि + कृ + घञ् = विकारः। म्ना + मनिन् नि० सा० नाम। मृद् + तिकन् + टाप् = मृत्तिका ॥ १५ ॥

मननन्तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तार्थानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्विजातीयवस्तुजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्। अस्यार्थः। विजातीयदेहादिबुद्ध्यन्तजडपदार्थनिराकरणेन सजातीयाद्वितीय-वस्तुविषयप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनमित्यर्थः ॥ १६ ॥

व्याख्या—मननम् = गहनचिन्तनम्, तु = किन्तु, श्रुतस्य=कर्णगोचरीभूतस्य, अद्वितीयवस्तुनः=निर्विशेषब्रह्मणः, वेदान्तस्य = आगमसिद्धान्तस्य, यः अर्थः तस्य अनुरूपाभिः युक्तिभिः = तर्कैः, अनवरतम् = सततम्, अनुचिन्तनम् = अनुशीलनम्, विजातीयः = भिन्नजातीयः, देहादिः = शरीरादिः तस्य प्रत्ययरहितात् = अविश्वासात्, विजातीयवस्तुषु = भिन्नजातीयपदार्थेषु, सजातीयः = समानजातीयः प्रत्ययप्रवाहः = विश्वासशृङ्खला, निदिध्यासनम् = निरन्तरचिन्तनम्। अस्य = प्रतिपादितवाक्यस्य, अर्थः=व्याख्या, विजातीयः=भिन्नजातीयः, देहादिः=शरीरादिः, बुद्ध्यन्त इति। बुद्धिः अन्ते यस्यासौ बुद्ध्यन्तः, जडपदार्थः, जलति घनीभवतीति जल् = अच् लस्य डः जडः = मन्दः पदार्थः तस्य निराकरणेन = खण्डनेन, सजातीयं= समानजातीयं यद् अद्वितीयवस्तु ब्रह्म, तस्य विषयः = ज्ञानेन्द्रियगोचरः यः

प्रत्ययः=ज्ञानम्, तस्य प्रवाहीकरणम्=निरन्तरानुशीलनम् निदिध्यासनम्=निरन्तरचिन्तनमित्यर्थः ॥ १६ ॥

हिन्दी—सुने हुए उस परमात्मा के सम्बन्ध में वेदान्त के अर्थानुगुण युक्तियों के द्वारा सतत् गम्भीर चिन्तन ही मनन है। विजातीय देहादि से अविश्वास के कारण विजातीय वस्तुओं में सजातीय विश्वास को प्रवाहित करना निदिध्यासन है। इसका अर्थ है—विजातीय देहादि में बुद्ध्यन्त जड़ पदार्थ के निराकरण से सजातीय उस परम पुरुष के विषय में विश्वास का प्रवाहीकरण ही निदिध्यासन है ॥ १६ ॥

निर्वचन—मन् + ल्युट् = मननम्। युज् + क्तिन् = युक्तिः। विभिन्नजातिः विजाति + छ = विजातीयः। प्रति + इ + अच् = प्रत्ययः। प्र + वह् + घञ् = प्रवाहः। नि + ध्यै + सन् + घञ् + ल्युट् = निदिध्यासनम्। जलति घनीभवति जल + अच्, लस्य डः = जडः। निर् + आ + कृ + ल्युट् = निराकरणम्। प्र + वह् + घञ् + च्विः + ल्युट्=प्रवाहीकरणम्।

दमो नाम बाह्येन्द्रियनिग्रहः। बाह्येन्द्रियाणि कानि? कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च। तेषां निग्रहः श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवृत्तिर्दमः। उपरतिर्नाम विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। श्रवणादिष्वेव वर्त्तमानस्य मनसः श्रवणादौ वर्त्तमानं वा उपरतिः। तितिक्षा नाम देहविच्छेदव्यतिरिक्तं शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनम्। निग्रहशक्तावपि परापराधसोढृत्वं वा तितिक्षा। समाधानं नाम, श्रवणादिषु वर्त्तमानं मनो वासनावशाद्विषयेषु यदा यदा गच्छति तदा दोषदृष्ट्या तेषु तेषु श्रवणादिषु समाधिः समाधानम् ॥ १७ ॥

व्याख्या—दमो नाम=नियन्त्रणम्, बाह्येन्द्रियनिग्रहः=चक्षुरादीनां संयमः, अदृश्यादर्शनमश्रव्याश्रवणादिरूपः। बाह्येन्द्रियाणि, कानि=कियन्ति। कर्मेन्द्रियाणि पञ्च=वाक्पाणिपादपायूपस्थान् पञ्च कर्मेन्द्रियाण्याहुः, कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः, पादौ गमनागमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या। ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्चविषयान् बुद्ध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि। शब्दत्वक्चक्षूरसनाघ्राणरूपाणि। तेषाम्=इन्द्रियाणाम्, निग्रहः=नियन्त्रणम्, श्रवणादि=श्रवणम् आदि यस्य तत् श्रवणादि आत्मश्रवणव्यतिरिक्तविषयेभ्यः=भिन्नेन्द्रियार्थेभ्यः, निवृत्तिः=निरोधः दमः। उपरतिर्नाम=विरक्तिर्नाम, विहितानाम्=निर्धारितानाम्, कर्मणाम्=कार्याणाम्, विधिना=रीत्या, परित्यागः=उत्सर्गः। श्रवणादिषु=ब्रह्मविषयकश्रवणादिषु, एव, वर्त्तमानस्य=उपस्थितस्य, मनसः=चित्तस्य, एकादशेन्द्रियाणां मध्ये मन उभयात्मकम् इन्द्रियम्-श्रवणादौ=ब्रह्मश्रवणादौ, वर्त्तमानम्=उपस्थितम्, वा=अथवा उपरतिः=तितिक्षा=सहनम्, देहविच्छेदः=शरीरवियोगः, तस्मात् व्यतिरि-

क्षमम्=भिन्नम्, शीतोष्णादिद्वन्द्वस्य सहनम्=क्षान्तिः। निग्रहशक्तावपि=दण्डदान-सामर्थ्येपि, परस्य=अन्यकृतस्य, अपराधस्य=दोषस्य सोढृत्वम्=सहिष्णुता, वा=अथवा, तितिक्षा=चित्तैकाग्र्यं च, समाधानम् नाम=भावचिन्तनं नाम, श्रवणादिषु=ब्रह्मविषयकवेदान्तवाक्याकर्णनेषु वर्त्तमानम्=स्थितम्, मनः=एकादशेन्द्रियः, वासनावशात्=सूक्ष्मसंस्कारायत्ततया विषयेषु=इन्द्रियार्थेषु रूप-रसादिषु, यदा यदा गच्छति=यस्मिन् यस्मिन् काले याति, तदा=तस्मिन् काले दोषदृष्ट्या अनिष्टकारीति विचारेण, तेषु तेषु श्रवणादिषु=वेदान्तवाक्येषु, समाधिः=योगस्यान्तिमावस्था, समाधानम्, एकाग्रीकरणमिति ॥ १७ ॥

हिन्दी—वाह्येन्द्रिय के निग्रह का नाम दम है। वाह्येन्द्रिय कौन हैं ? पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय। उन सबों का निग्रह—श्रोत्रेन्द्रियादि से अलगाये हुए विषयों से निवृत्ति का नाम दम है। विहित कर्मों का विधिवत् परित्याग का नाम उपरति है। (विहित कर्म का तात्पर्य है) श्रोत्रेन्द्रियादि में ही संलग्न मन का अथवा श्रवणादि में वर्त्तमान मन का त्याग। शरीर वियोग से भिन्न शीतोष्णादि कष्ट की सहन शक्ति का नाम—तितिक्षा है। अथवा निग्रह की शक्ति रहने पर भी दूसरों के द्वारा किये गये अपराधों को बर्दास्त करने की शक्ति का नाम तितिक्षा है। श्रोत्रेन्द्रियादि में वर्त्तमान मन जब कभी वासनावश विषयों की ओर जाता है—तब उन्हें दोष दृष्टि से रोककर उन श्रोत्रेन्द्रियों में भाव चिन्तन करना ही समाधि है ॥ १७ ॥

निर्वचन—नि+ग्रह+अप्=निग्रहः। उप्+रम्+क्तिन्=उपरतिः। वि+धा+क्त=विहितः। वि+धा+कि=विधिः। परि+त्यज्+घञ्=परित्यागः। श्रु+ल्युट्=श्रवणम्, मन्यतेऽनेन मन्, करणे असुन्=मनः। तिज्+सन्+अ+टाप्, द्वित्वम्=तितिक्षा। वि+छिद्+घञ्=विच्छेदः। वि+अति+रिच्+क्त=व्यतिरिक्तः। श्यै+क्त=शीत। उष्+नक्=उष्णः। द्वौ द्वौ सहाभिव्यक्तौ द्विशब्दस्य द्वित्वम्, पूर्वपदस्य अम्भावः, उत्तरपदस्य नपुंसकत्वम्, द्वन्द्वम्। सह+ल्युट्=सहनम्। अप्+राध्+घञ्=अपराधः। सम्+आ+धा+ल्युट्=समाधानम्। वस्+णिच्+युच्+टाप्=वासना ॥ १७ ॥

श्रद्धा नाम, गुरुवेदान्तवाक्येषु अतीव विश्वासः ॥ १८ ॥

इदं तावत् शमादिषट्कमित्युक्तम्। मुमुक्षुत्वं नाम, मोक्षेऽतितीव्रेच्छावत्त्वम्। एतत्साधनचतुष्टयसम्पत्तिः, तद्वान् साधनचतुष्टयसम्पन्नः। तस्य आत्मानात्मविचारेऽधिकारः। यथा ब्रह्मचारिणः कर्त्तव्यन्तरं नास्ति, तथास्यान्यत् कर्त्तव्यं नास्ति ॥ १९ ॥

साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावेऽपि गृहस्थानामात्मविचारे क्रियमाणे सति तेन प्रत्यवायो नास्ति, किन्तु अतीव श्रेयो भवति। यथा—

दिने दिने च वेदान्तविचाराद् भक्तिसंयुतात् ।
गुरुशूश्रूषया लब्धात् कृच्छ्राशीतिफलं भवेत् ॥
इत्युक्तम् ॥ २० ॥

व्याख्या—श्रद्धा नाम=निष्ठा नाम, गुरुवेदान्तवाक्येषु=आचार्योपनिषद्वचनेषु, अतीव=अत्यधिकम्, विश्वासः=प्रत्ययः ॥ इदम्=एतत्, तावत्, इत्यत्रधारणे, शमादिः=शमः आदिर्येषाम् ते शमादयः, तेषां षट्कम्=षट्संख्यकम्, इत्युक्तम्=एवं कथितम् । मुमुक्षुत्वं नाम–मोक्षे=मुक्तिविषये, अतितीव्रेच्छावत्त्वम्=अत्युत्कटाभिलाषः । एषा=इयं, साधनचतुष्टयसम्पत्तिः=चतुर्विधोपायसमृद्धिः, तद्वान्=तद्युक्तः, साधनचतुष्टयसम्पन्नः, तस्य=साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य, आत्मानात्मविचारे=जीवजडचिन्तने, अधिकारः=स्वाम्यम्, यथा=येन प्रकारेण, ब्रह्मचारिणः=शाश्वते ब्रह्मणि चरन्तः ब्रह्मचारिणः, कर्त्तव्यान्तरम्=अन्यत्कर्त्तव्यम्, नास्ति, न भवति, तथा=तेन प्रकारेण, अस्य=साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य, अन्यत्=अपरम्, कर्त्तव्यम्=कृत्यम्, नास्ति=न भवति ॥ साधनचतुष्टयसम्पत्त्यभावेऽपि=चतुर्विधोपायसमृद्ध्यभावेऽपि, गृहस्थानाम्=गृहे तिष्ठन्तीति गृहस्थास्तेषाम् गृहस्थानाम्=गृहस्थाश्रमवासिनाम्, आत्मविचारे=ब्रह्मचिन्तने, क्रियमाणे सति=अनुष्ठीयमाने सति, तेन=पुरुषविशेषेण, प्रत्यवायः=पापम्, नास्ति=न विद्यते, किन्तु=परञ्च, अतीव=अत्यन्तम्, श्रेयः=कल्याणम्, भवति=जायते ॥ यथा=येन प्रकारेण—दिने दिने=प्रतिदिनम्, वेदान्तविचारात=उपनिषच्चिन्तनात्, च=पुनः, भक्तिसंयुतात्=श्रद्धासमन्वितात्, गुरुशुश्रूषया=आचार्यसेवया, लब्धात्=प्राप्तात् कृच्छ्राशीतेः=कृच्छ्रनामकप्रायश्चित्तानाम् अशीतिसंख्यानां फलम्=पुण्यम्, भवेत्=लभेत, इत्युक्तम्=एवं कथितम् ॥ १८–२० ॥

हिन्दी—गुरु और वेदान्त के वचनों में अत्यन्त विश्वास का नाम श्रद्धा है। यह शम, दम प्रभृति छः के भीतर एक कहा गया है। मुक्ति प्राप्ति के लिए अत्यन्त तीव्र उत्कण्ठा का नाम मुमुक्षा है। यह साधन चतुष्टय सम्पत्ति है; यह सम्पत्ति जिसके पास है, वह साधन चतुष्टय सम्पन्न कहलाता है। उसे ही आत्म और अनात्म सम्बन्धी विचार में अधिकार है। जैसे ब्रह्मचारियों के लिए कोई अन्य कर्त्तव्य नहीं है, उसी प्रकार साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति के लिए कोई अन्य कर्त्तव्य नहीं है। साधन चतुष्टय रूपी सम्पत्ति के अभाव में भी गृहस्थों के आत्मविचार करने पर भी उसे पाप नहीं होता, किन्तु उसे अत्यधिक कल्याण होता है। जैसे—

प्रतिदिन वेदान्त विचार से, भक्ति संयोग से तथा गुरु की सेवा से प्राप्त अस्सी कृच्छ्रव्रत का फल प्राप्त होता है। ऐसा कहा गया है ॥ १८–२० ॥

निर्वचन—अति + इव = अतीव । वि + श्वस् + घञ् = विश्वासः । इ + अदि + तुक् = एतत् । प्रति + अव् + अय् + घञ् = प्रत्यवाय । भज् + क्तिन् = भक्तिः, श्रु + सन् + द्वित्वादि + अ + टाप् = शुश्रूषा । कृति + रक् + छ आदेश=कृच्छ्र ॥ १८–२० ॥

आत्मानात्मविचारः कर्त्तव्य इत्युक्तम् । आत्मा नाम स्थूल-

सूक्ष्मकारणशरीरत्रयविलक्षणः पञ्चकोषव्यतिरिक्तः अवस्थात्रय-साक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः ॥ २१ ॥

अनात्मा नाम अनृतजडदुःखात्मकं समष्टिव्यष्ट्यात्मकशरीरत्रयम्। शरीरत्रयं नाम स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयम्। स्थूलशरीरं नाम पञ्चीकृतभूतकार्यं कर्मजन्यं जन्मादिषड्भाव-विकारम् ॥ २२ ॥

व्याख्या— आत्मा = ब्रह्म, अनात्मा=नश्वरदेहादि च, तत्सम्बन्धिविचारः = विमर्शः, कर्त्तव्यः = करणीयः, इत्युक्तम् = इति कथितम्। आत्मा नाम=ब्रह्म इत्युक्तं, स्थूलञ्च=दृष्टिगोचरीभूतमतिविस्तारञ्च, सूक्ष्मञ्च=आणविकञ्च, करणञ्च=प्रयोजनञ्च, तेन निर्मितात् शरीरत्रयात्=त्रिसंख्यकदेहात, विलक्षणः = भिन्नः, पञ्चकोषव्यतिरिक्तः = लिङ्गशरीरवियुक्तः (पञ्चकोषञ्च—१ अन्नमयकोषः, २ प्राणमयकोषः, ३ मनोमयकोषः, ४ विज्ञानमयकोषः, ५ आनन्दमयकोषश्च) अवस्थात्रयसाक्षी = जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त-अवस्थात्रयद्रष्टा, सच्चिदानन्दस्वरूपः = सच्चिदानन्दघनः ॥ अनात्मा नाम—अनृतम् = असत्यम्, जडम् = मन्दम्, तेन दुःखात्मकम् = पीडादायकम्, समष्टिः = समुच्चयात्मकव्याप्तिः तथा व्यष्टिः = वैयक्तिकता, तदात्मकशरीरत्रयम्= त्रिप्रकारकम् देहम्। शरीरत्रयम् नाम स्थूलम् = विस्तृतम्, सूक्ष्मम् = अणुस्वरूपम्, कारणञ्च = कारणभूतम्, शरीरत्रयम् = त्रिप्रकारकम् देहम्। स्थूलशरीरम् नाम— पञ्चीकृतभूतकार्यम्=पञ्चकोषीकृतभौतिककरणीयम्-कर्मजन्यम्=कर्मोत्पन्नम्, जन्मादिषड्भावविकारम्=जन्म-मरणादिकषड्भावविकृतिः ॥ २१-२२ ॥

हिन्दी—आत्मा एवं अनात्मा सम्बन्धी विचार करना चाहिए ऐसा कहा गया है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूपी तीन प्रकार के शरीर से विलक्षण, अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय, प्राणमय एवं आनन्दमय पांच प्रकार के कोष से व्यतिरिक्त, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थात्रय के साक्षात् द्रष्टा सच्चिदानन्द रूप आत्मा है ॥ २१ ॥

और, अनात्मा—अनृत है, जड़ है और दुःखात्मक है, समष्टि और व्यष्टि स्वरूप तीन प्रकार के शरीर हैं। शरीरत्रय से तात्पर्य है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप तीन प्रकार की देह। स्थूल शरीर वह है जो पञ्चीकृत भूत कार्य है। कर्म से उत्पन्न जन्म-मरणादि छः प्रकार के भावों से विकृत है ॥ २२ ॥

निर्वचन—अत + मनिन् = आत्मा। अन् + अत + मनिन् = अनात्मा। वि + चर् + घञ् = विचारः। कृ + तव्यत = कर्त्तव्यम्। स्थूल + अच्। सूक् + मन्, सुक् च नेट् = सूक्ष्म। कृ + णिच् + ल्युट् = कारणम्। त्रि + अयच् = त्रयः। शृ + ईरन् = शरीरम्। विभिन्नं लक्षणम् यस्यासौ विलक्षणः वि + लक्ष् + अच्। पंच् + कनिन् = पञ्चन्। वि + अति + रिच् + क्त = व्यतिरिक्त। अव् + स्था + अङ् = अवस्था। सह अक्षि अस्य, साक्षात् द्रष्टा साक्षी वा—सह + अक्ष + इनि = साक्षिन्। जलति घनीभवति जल् + अच् लस्य डः= जडः। सम् + अश् + क्तिन् समष्टिः। वि + अश् + क्तिन् = व्यष्टिः। भू + क्त = भूतः वि + कृ + घञ् = विकारः ॥ २१-२२ ॥

तथा चोक्तम्—

पञ्चीकृतमहाभूत-सम्भवं कर्मसञ्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥ इति ॥ २३ ॥

व्याख्या—तथा=तेन प्रकारेण, च=पुनः, उक्तम्=कथितम् ॥ पञ्चीकृतमहाभूत-सम्भवम्=क्षित्यप्तेजमरुद्व्योमादिसम्मिलितमूलतत्त्वोत्पन्नम्, कर्मसञ्चितम् = स्वकृत्येन संगृहीतम्, शरीरम् = देहम्, सुखानाम्=आनन्दानाम्, दुःखानां=कष्टानाम् च, भोगायतनम्=उपभोगभूमिः, उच्यते=कथ्यते ॥ २३ ॥

हिन्दी—ऐसा कहा है—'पाञ्च भौतिक मूल तत्त्वों से निर्मित संचित कर्मों के फल स्वरूप सुख-दुःखों के भोगों के स्थान रूप यह शरीर कहा गया है' ॥ २३ ॥

निर्वचन—मह् + घ + टाप् = महा । पञ्च् + च्वि + कृ + ल्युट् = पञ्चीकरणम् । सो + डम् + भू + अप् = संभवः । कृ + मनिन् = कर्मन् । सम् + चि + क्त = संचितः । भुज् + घञ्=भोगः । आयतन्तेऽत्र आयत् + ल्युट् = आयतनम् ॥ २३ ॥

पञ्चीकरणन्तु—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥ इति

शीर्यते वयोभिर्बाल्यकौमारयौवनवार्द्धक्यादिभिरिति शरीरम् । दह भस्मीकरणे इति व्युत्पत्त्या च देहः भस्मीभावं प्राप्नोति । ननु केचिद्देहा न भस्मीभावं प्राप्नुवन्ति, केचिद्देहाः खननादि प्राप्नुवन्ति, कथमुच्यते सर्वं स्थूलादिकं स्थूलदेहजातं भस्मीभावं प्राप्नोति, यद्यप्येवं तथापि केनाग्निना दाहत्वं सम्भवतीत्यत आह, सर्वेषां स्थूलदेहानाम् आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकादि-तापत्रयाग्निना दाहत्वं सम्भवति । आध्यात्मिकं नाम आत्मानं देहम् अधिकृत्य वर्त्तत इत्यध्यात्मम् । अध्यात्मञ्च तत् दुःखम् आध्यात्मिकं वातपित्तकफजातं शिरोरोगज्वरादिना व्याधिरूपम् । आधिभौतिकं नाम भूतमधिकृत्य वर्त्तते इत्याधिभौतिकं व्याघ्रतस्करादिजन्यदुःखम् । आधिदैविकं नाम देवमधिकृत्य वर्त्तते इत्याधिदैविक शीतातपवातवर्षवैद्युतादिदुःखम् ।

व्याख्या—पञ्चतत्त्वानाम् सम्मेलनन्तु द्विधा विधायं=विभज्य, च=पुनः, एकैकम्=

प्रत्येकम्, पुनः, प्रथमम्=प्रधानम्, चतुर्धा=चतुष्प्रकारेण विधीयते। शीर्यते=जीर्यते, वयोभिः=अवस्थाभिः, बाल्यकौमारयौवनवार्द्धक्यादिभिः=शैशवकैशोर्यतारुण्यवृद्धत्वादिभिः, इति=इत्थम्, शरीरम्=देहम्, 'दह भस्मीकरणे,' इति व्युत्पत्त्या=इति निर्वचनेन च, देहः=शरीरम् भस्मीभावं प्राप्नोति=भस्मसाद्भवति। ननु=इति प्रश्नार्थे, केचिद्देहाः=कतिचिच्छरीराणि, न भस्मीभावम् प्राप्नुवन्ति=न भस्मसाद्भवन्ति, केचिद्देहाः=कतिचिच्छरीराणि, खननादि प्राप्नुवन्ति=पृथिव्यामन्तराले गर्त्तादि लभन्ते, तर्हि कथम्=केन प्रकारेण, उच्यते=कथ्यते, सर्वम्=अखिलम्, स्थूलादिकम्=स्थूलभौतिकपदार्थादिकम्, स्थूलदेहजातम्=स्थूलशरीरसमुदायः, भस्मीभावम् प्राप्नोति=भस्मसाद् भवति। यद्यप्येवम्=स्वीक्रियते तथापि केन=कारणेन, अग्निना वह्निना=दाहत्वम्=भस्मीभावत्वम्, सम्भवतीत्याह=संभावनास्तीत्याह सर्वेषाम्=अखिलानाम्, आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकादि=दैहिकदैविकभौतिकादि, तापत्रयाग्निना=पूर्वकथितसंतापत्रयवह्निना, दाहत्वम् संभवति=भस्मीभावस्य संभावनाऽस्तीति शेषः। आध्यात्मिकम् नाम—आत्मानम्=जीवम्, देहम्=शरीरम्, अधिकृत्य=विषयेषु वर्तत इति=अस्तीति अध्यात्मम्। अध्यात्मम् च=आत्मनः संबद्धम् च, तत् दुःखम्=कष्टम् इति आध्यात्मिकम्=वातपित्तकफजातम्=वायुपित्तकफोत्पन्नम्, शिरोरोगज्वरादिना, व्याधिरूपम्=रोगस्वरूपम् अस्तीति शेषः। आधिभौतिकम्, नाम—भूतमधिकृत्य वर्तते=मूलतत्वविषये अस्तीति आधिभौतिकम्, व्याघ्रतस्करादिजन्यदुःखम्=शार्दूलचौरादिसमुत्पन्नं कष्टम्। आधिदैविकम् नाम—देवमधिकृत्य वर्त्तत इति=देवविषयेऽस्तीति आधिदैविकम्=शीतातपवातवर्षवैद्युतादि=शीतघर्मवायुवर्षविद्युदादि समुत्पन्नम् दुःखम्=कष्टमस्तीति भावः॥ २३॥

हिन्दी—पञ्चीकरण को पहले दो भागों में विभक्त कर प्रत्येक को चार खण्डों में बांटा जाता है। अपने से भिन्न दूसरे भागों से जोड़ने पर ये पांच-पांच हैं।

बचपन, किशोर, जवानी तथा बुढ़ापा आदि अवस्थाओं के द्वारा यह शरीर क्षीण होता है। 'दहभस्मीकरणे' इस व्युत्पत्ति से देह का अर्थ है जो भस्म हो जाय। अब प्रश्न है कि कुछ देहें तो जलायी जाती नहीं, उन्हें मिट्टी के नीचे दफनाया जाता है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है स्थूलादिक या स्थूल देह से समुत्पन्न तत्व जलाये जाते हैं। अतः इसका नाम देह है। यद्यपि बातें ऐसी ही हैं, फिर भी आग के द्वारा देहों का भस्मीभाव कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हैं—सभी स्थूल देहों का दैहिक, दैविक, एवं भौतिक तापत्रयरूपी अग्नि के द्वारा जलना सम्भव है। आत्मा और देह के सम्बन्ध में जो कुछ वह आध्यात्मिक है। अध्यात्म और उसके दुःख को आध्यात्मिक ताप कहते हैं—जैसे वात, पित्त और कफ से समुत्पन्न शिरोरोग ज्वरादिरूप आध्यात्मिक कष्ट है। आधिभौतिक से तात्पर्य भूत तत्वों के सम्बन्ध में है। यथा व्याघ्र तस्कर आदि से समुत्पन्न कष्टों को आधिभौतिक कष्ट कहते हैं। देवताओं को अधिकृत कर जो कष्ट है उसे आधिदैविक कष्ट कहते हैं। जैसे शीत, आतप, वात, वर्षा और बिजली आदि से समुत्पन्न कष्टों को आधिदैविक कष्ट कहा जाता है।

निर्व०—द्वि + धाच्=द्विधा। इ + कन्=एकः। चतुर् + धा = चतुर्धा। प्रथ् + अमच् = प्रथमम्। पन + अर्, उत्वम्=पुनः। स्वन् + ड=स्व। इति + तृ + अप्=इतरः। द्वयोः पूरणम्

द्वि + तीय=द्वितीय। अंश् + अच् = अंशः। शॄ + क्त= शीर्णः। कुमार + अण्=कौमारम्। यूनो भावः युवन् + अण् = यौवनम्। वि + उत् + पद + क्तिन् = व्युत्पत्तिः खन + ल्युट् = खननम्। अध्यात्म + ठञ् = आध्यात्मिक। तप् + घञ्=तापः। अधि + कृ + क्त्वा + ल्यप् = अधिकृत्य। अपि + दोः + क्त = अपेः अकारलोपः, पित्तम्। केन जलेन फलतीति फल + ड = कफ। श्यै + क्त = शीत। आ + तप् + घञ्=आतपः। शॄ + असुन् + शिरस्। रुज् + घञ् = रोगः। व्याजिघ्रतीति वि + आ + घ्रा + क=व्याघ्रः।

सूक्ष्मशरीरं नाम अपञ्चीकृतभूतकार्यं सप्तदशकं लिङ्गम्। सप्तदशकं नाम ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, प्राणादिवायवः पञ्च, बुद्धिर्मनश्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि कानि? श्रोत्र-त्वक्-चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। श्रोत्रेन्द्रियं नाम, कर्णव्यतिरिक्तं कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेशाश्रयं शब्दग्रहणशक्तिमदिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियमिति। त्वगिन्द्रियं नाम, त्वग्व्यतिरिक्तं त्वगाश्रयम् आपादतलमस्तकव्यापि शीतोष्णादिस्पर्शग्रहणशक्तिमदिन्द्रियं त्वगिन्द्रियमिति। चक्षुरिन्द्रियं नाम, गोलकव्यतिरिक्तं गोलकाश्रयं कृष्णतारकाग्रवर्ति रूपादिग्रहणशक्तिमदिन्द्रियं चक्षुरिन्द्रियमिति। जिह्वेन्द्रियं नाम, जिह्वाव्यतिरिक्तं जिह्वाश्रयं जिह्वाग्रवर्त्ति रसादिग्रहणशक्तिमदिन्द्रियं जिह्वेन्द्रियमिति। घ्राणेन्द्रियं नाम, नासिकाव्यतिरिक्तं नासिकाश्रयं नासिकाग्रवर्ति गन्धादिग्रहणशक्तिमदिन्द्रियं घ्राणेन्द्रियमुच्यते।

व्याख्या—सूक्ष्मशरीरम् = लिङ्गशरीरम् नाम—अपञ्चीकृतम् = अपञ्चीकृतभूतकार्यम्=भौतिकतत्त्वम्, सप्तदशकम्=सप्तदशसंख्यकम्, लिङ्गम् = प्रतीकमिति। सप्तदशमकम् नाम—ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च = शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्चविषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि पञ्चकर्म कुर्वन्तीति= कर्मेन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः। प्राणादिवायवः पञ्च= प्राणापानसमानोदानापाना इति पञ्च वायवः, बुद्धिः=बुद्ध्यतेऽनया इति बुद्धिः, सा च सात्त्विकैः, तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा त्रिगुणादव्यक्ताद्धुत्पद्यते। तथा च अध्यवसायो बुद्धिः, मनः=अन्तःकरणमिति। ज्ञानेन्द्रियाणि कतिविधानि तदुच्यते— श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि=चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि। श्रोत्रेन्द्रियं नाम= तत्र प्रथमम् श्रोत्रेन्द्रियं व्याख्यायते, कर्णव्यतिरिक्तम्=श्रोत्रव्यतिरिक्तम्, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नम्—कर्णश्रवणमार्गविविक्तम्, नभोदेशाश्रयम् = आकाशदेशाधिष्ठानम् शब्दग्रहणशक्तिमदिन्द्रियम्=श्रोत्रेन्द्रियम्। त्वगिन्द्रियं नाम-त्वग्व्यतिरिक्तम्= त्वगिन्द्रियव्यतिरिक्तम्=स्पर्शेन्द्रियभिन्नम्, त्वगाश्रयम्=त्वगधिष्ठानम्, आपादतल-

मस्तकव्यापि = पादारभ्यशिरःपर्यन्तव्याप्तम्, शीतोष्णादिस्पर्शग्रहणशक्तिमदिन्द्रियम्=शीततापादिस्पर्शग्रहणक्षमेन्द्रियम्, त्वगिन्द्रियम्। अर्थात्=स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनम् त्वगिन्द्रियम्, तद्वाची सिद्धः स्पर्शशब्द इति भावः। चक्षुरिन्द्रियम् = नेत्रेन्द्रियम् गोलोकव्यतिरिक्तम् = गोलोकवियुक्तम्, गोलोकाश्रयम् = गोलोकाधिष्ठानम्, कृष्णतारकाग्रवर्त्ति = कनीनिकापुरोवर्ति, रूपादिग्रहणशक्तिमदिन्द्रियम्= आकृतिग्रहणक्षमेन्द्रियम् चक्षुरिन्द्रियम्। जिह्वेन्द्रियम् = रसनेन्द्रियम्, जिह्वाव्यतिरिक्तम्=रसनावियुक्तम्, जिह्वाश्रयम्=रसनाधिष्ठानम्, जिह्वाग्रवर्त्ति=रसनाग्रवर्त्ति, रसादिग्रहणशक्तिमदिन्द्रियम्=स च मधुराम्ललवणकटुकषायादिरसग्रहणे समर्थेन्द्रियम् जिह्वेन्द्रियम्। घ्राणेन्द्रियम् नाम, नासिकाव्यतिरिक्तम्=नासावियुक्तम्, नासिकाश्रयम् = नासाधिष्ठानम्, नासिकाग्रवर्त्ति=नासापुरोवर्त्ति, गन्धादिग्रहशक्तिमदिन्द्रियम्=घ्राणेन्द्रियमुच्यते=कथ्यते इति।

हिन्दी—अपञ्चीकृत महतत्त्व और सत्रह लिङ्ग के समूह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राणादि वायु, बुद्धि और मन ये सत्रह सप्तदशक हैं। ज्ञानेन्द्रिय कौन हैं? श्रोत्र (कान) त्वक्, (शरीर का चमड़ा) चक्षुः (आंख) जिह्वा (जीभ) और घ्राण (नाक) ये पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं। कानों से भिन्न कर्ण कुहरों में व्याप्त शून्य में आश्रित शब्दों को ग्रहण करने की शक्तिवाले इन्द्रिय को श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं। त्वचा से भिन्न एवं त्वचा में आश्रित शिर से पैर तक व्याप्त शीतोष्णादि स्पर्शानुभूति में सक्षम इन्द्रिय को त्वगिन्द्रिय कहते हैं। आंखों से भिन्न एवं आंखों से आश्रित आंखों की कनीनिका के अग्रवर्त्ति रूपादि ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय हैं। जीभ से भिन्न और जिह्वाश्रय तथा जीभ के अग्रवर्त्ति मधुराम्लादि रस ग्रहण में समर्थ इन्द्रिय को जिह्वेन्द्रिय कहते हैं। नासिका से व्यतिरिक्त एवं नासिकाश्रित तथा नाक के आगे गन्धादिग्रहण में समर्थ इन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं।

निर्वचन—लिङ्ग् + अच् = लिङ्गम्। कर्ण्यते आकर्ण्यतेऽनेन कर्ण् + अप् = कर्णः। शष् + कुलच् + ङीष् = शष्कुली। अव् + छिद् + क्त = अवच्छिन्न। नभ् + असुन् = नभः। आ + श्रि + अच् = आश्रयः। शप् + दन् = शब्दः। त्वच् + क्विप् = त्वच्। वि + अति + रिच् + क्त = व्यतिरिक्त। आ + पद् + घञ् आपादः। वि + अप् + णिनि = व्यापि। नास् + ण्वुल् + टाप् + इत्वम् = नासिका।

कर्मेन्द्रियाणि कानि? वाक्पाणिपादपायूपस्थानि। वागिन्द्रियं नाम, वाग्व्यतिरिक्तं वागाश्रयम् अष्टस्थानवर्त्ति शब्दोच्चारणशक्तिमदिन्द्रियं वागिन्द्रियमिति। अष्ट स्थानानि, उरःकण्ठशिरस्तालुजिह्वादन्तौष्ठनासिकाः।

पाणीन्द्रियं नाम, पाणिव्यतिरिक्तं करतलाश्रयं दानादानप्रतिग्रहशक्तिमदिन्द्रियं पाणीन्द्रियमित्युच्यते। पादेन्द्रियं नाम पादव्यतिरिक्तं पादाश्रयं पादतलवर्त्ति गमनागमनशक्तिमदि-

न्द्रियं पादेन्द्रियमिति। पाय्विन्द्रियं नाम, गुदव्यतिरिक्तं गुदाश्रयं पुरीषोत्सर्गशक्तिमदिन्द्रियं पाय्विन्द्रियमिति। उपस्थेन्द्रियं नाम, उपस्थव्यतिरिक्तम्। उपस्थाश्रयं मूत्रशुक्रोत्सर्गशक्तिमदिन्द्रियम् उपस्थेन्द्रियमिति। एतानि कर्मेन्द्रियाणि।

व्याख्या—एवं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि व्याख्यातानि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि किमात्मकानि किंस्वरूपाणि चेति तदुच्यते-कर्मेन्द्रियाणि कानि? वाक्पाणिपादपायूपस्थानि=कर्म कुर्वन्तीति कर्मेन्द्रियाणि, तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं दानप्रतिग्रहात्मकम् कुरुतः, पादौ गमनागमनम्, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्येत्यादि। वागिन्द्रियम् नाम-वाग्व्यतिरिक्तम्=वाग्वियुक्तं वागाश्रयम्=वागाधिष्ठानम्, अष्टस्थानवर्त्ति=उरःकण्ठादि-अष्टसंख्यकस्थानवर्त्ति, शब्दोच्चारणशक्तिमदिन्द्रियम् वागिन्द्रियमिति। कानि च तानि अष्टस्थानानि-उरः=वक्षस्थलम्, कण्ठः=गलम्, शिरः=उत्तमाङ्गम्, मस्तकम्, तालु=तालवीयस्थानम्, जिह्वा=रसना, दन्तः=रदनः ओष्ठः=अधरेण सहवर्त्ति-अङ्गविशेषः, नासिका=नासा, इत्येतानि अष्ट स्थानानि।

पाणीन्द्रियं नाम-पाणिव्यतिरिक्तम्=करवियुक्तम्, करतलाश्रयम् कराश्रयम्, दानादानप्रतिग्रहशक्तिमदिन्द्रियम्-आदानप्रदानप्रतिग्रहादिषु समर्थेन्द्रियम् पाणीन्द्रियम्। पादेन्द्रियम् नाम-पादव्यतिरिक्तम्-चरणविमुक्तं, पादाश्रयम्=चरणाश्रयम्, पादतलवर्त्ति=चरणतलवर्त्ति, गमनागमनशक्तिमत् यातायातसामर्थ्यवद् इन्द्रियम्—पादेन्द्रियमिति। पाय्विन्द्रियम् नाम-गुदव्यतिरिक्तम्—मलद्वारविमुक्तम्, गुदाश्रयम्=मलद्वाराश्रयम्, पुरीषोत्सर्गशक्तिमदिन्द्रियम्=मलोत्सर्गसामर्थ्यवद् इन्द्रियम् नाम पायुरिति। उपस्थेन्द्रियं नाम-उपस्थव्यतिरिक्तम्=जननेन्द्रियविमुक्तम्, उपस्थाश्रयम्=जननेन्द्रियाश्रयम्, मूलशुक्रोत्सर्गशक्तिमत्-विष्ठामूत्रोत्सर्गे सामर्थ्यवद् इन्द्रियम्, उपस्थेन्द्रियमिति। एतानि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि व्याख्यातानि। इमानि दशेन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपगन्धाः पञ्चानाम् वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् संकल्पश्च मनसः एव।

हिन्दी—कर्मेन्द्रिय कौन हैं? वाक् जीभ (बोलने का इन्द्रिय) पाणि (हाथ) पाद (पैर) पायु (गुदा) उपस्थ (शिश्न) ऐसे पाँच बाहर के इन्द्रिय काम करने के कारण कर्मेन्द्रिय हैं। वाणी से वियुक्त, वाणी में अधिष्ठित आठ स्थान में रहने वाला, शब्दोच्चारण में शक्तिमान इन्द्रिय वागिन्द्रिय है। आठ स्थान से तात्पर्य है हृदय, कण्ठ, शिर, तालु, जीभ, दाँत, ओष्ठ और नासिका। पाणीन्द्रिय-हाथों से वियुक्त, हाथों में आश्रित आदान-प्रदान एवं प्रतिग्रह में समर्थ इन्द्रिय को पाणीन्द्रिय कहते हैं। पैरों से भिन्न एवं पदाश्रित, पादतलवर्त्ति, यातायात में समर्थ इन्द्रिय पादेन्द्रिय कहलाता है। गुदा से भिन्न गुदा आश्रित मल त्याग में समर्थ इन्द्रिय पायु इन्द्रिय हैं। जननेन्द्रिय से भिन्न एवं जननेन्द्रिय में आसक्त मूत्र शुक्रोत्सर्ग में समर्थ इन्द्रिय उपस्थ इन्द्रिय कहलाता है। ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं।

निर्वचन—ऋ + असुन्, उत्वम् रपरश्च उरः। कण्ठ् + अच् = कण्ठः। नरत्यनेन-वर्णाः—तृ + उण्, रस्य लः=ल। उष् + थन् + ओष्ठ। गुद् + अच् + टाप् = गुदा। उप् + स्था + क = उपस्थः। मूत्र् + घञ् + मूत्रम्।

अन्तःकरणं नाम मनो बुद्धिश्चित्तमहङ्कारश्चेति। मनः-स्थानं गलान्तम्। बुद्धेर्वदनम्। चित्तस्य नाभिः। अहंकारस्य हृदयम्। एतेषां विषयाः संशयनिश्चयधारणाभिमानाः। अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणवृत्तिश्चित्तम्। अभिमानान्तःकरणवृत्ति-रहङ्कारः। चित्तस्य बुद्धावन्तर्भावः, विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशे-षात्। अहङ्कारस्य मनस्यन्तर्भावः, तस्यापि सङ्कल्पात्मकत्वाविशे-षात्। बुद्धेर्ह्यपूर्वो विषयः। चित्तस्य पूर्वानुभवः। मनसो बाह्या-भ्यन्तरश्च। अहङ्कारस्य त्वनात्मोपरक्त आत्मेवेति। प्राणादि-वायुपञ्चकं नाम प्राणापानसमानोदानव्यानरूपाः। तेषां स्थान-विशेषा उच्यन्ते।

व्याख्या—अन्तःकरणम् नाम-आभ्यन्तरेन्द्रियम्, मनः=हृदयम्, बुद्धिः= अन्तःकरणस्य निश्चयात्मिका वृत्तिः, चित्तम्=अनुसन्धानकारिणी वृत्तिः। अहङ्कारः= गर्वश्चेति। मनः = मनसः, स्थानम् = निवासः, गलान्तरम् = कण्ठस्यान्तर्भाग इति शेषः। बुद्धेः = महतत्त्वस्य स्थानम् वदनम् = आननमस्ति, चित्तस्य=प्रत्यक्षज्ञातस्य, नाभिः = चक्रमध्य इति। अहंकारस्य = गर्वस्य, हृदयम्=अन्तःकरणमस्तीति शेषः। एतेषां पूर्वकथितचतुर्णाम्, कस्य कः विषय इत्युच्यते-संशयनिश्चयधारणाभिमानाः अर्थात् मनसः विषयः संशयः अस्ति, एवं बुद्धेः विषयः निश्चयोऽस्ति चित्तस्य विषयः धारणाऽस्ति, अहङ्कारस्य च विषयः अभिमानोऽस्ति। एवं कथितेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरित्युच्यते-अनुसन्धानात्मिकान्तःकरणस्य वृत्तिः चित्तमस्ति, स्वलक्षण-स्वभावाऽध्यवसायो बुद्धिः सैव बुद्धिवृत्तिः। अभिमानान्तःकरणवृत्तिरहङ्कारः अर्थात् अभिमानोऽहङ्कारः इत्यभिमानो लक्षणाऽभिमानवृत्तिश्च, चित्तस्य = अन्तः-करणस्य बुद्धौ = ज्ञाने अन्तर्भावः = अन्तर्गतः। विषयपरिच्छित्तिरूपत्वाविशेषात् = ज्ञानेन्द्रियैः प्राप्तपदार्थस्य परिभाषारूपत्वान्तराभावात् बुद्धेः = ज्ञानेन्द्रियस्य, हि=इति निश्चयेन, अपूर्वः = अभूतपूर्वः, विषयः = पदार्थः। चित्तस्य = प्रत्यक्ष-ज्ञानस्य, पूर्वानुभवः = प्रथमप्राप्तं प्रत्यक्षज्ञानम्। मनसः = प्रज्ञायाः, बाह्याभ्यन्त-रश्च = बाह्यभ्यन्तरिकश्च। अहङ्कारस्य = अभिमानस्य, तु = किन्तु, अनात्मा = नश्वर-शरीरम्, उपरक्तः = कष्टग्रस्तः, आत्मा = ब्रह्म, एवेति निश्चयः। प्राणः आदिर्यस्य स प्राणादिः पञ्चवायवः नाम = संज्ञा—प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्चवायवः सर्वेन्द्रियाणाम् सामान्या वृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं कर्मवत् पूर्वोक्तसप्तदशविधस्यापि सामान्या वृत्तिः, सति प्राणे यस्मात्

करणानामात्मलाभ इति, प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं करोतीति, प्रागननात्=प्राग्भागव्यापनात्, प्राण इत्युच्यते। तथा अवाग् गमनवान् अपानः, तत्र यत्र स्पन्दनं तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य। तथा समानो मध्यदेशवर्तीय आहारादीनाम् समं नयनात् समानो वायुः, तत्र यत् स्पन्दनम् तत् सामान्यकरणवृत्तिः। तथा ऊर्ध्वारोहणात उत्कर्षादुन्नयनात वा उदानो नाभिदेश मस्तकान्तरगोचरः, तत्रोदाने यत् स्पन्दनम् तत् सर्वेन्द्रियाणाम् सामान्यावृत्तिः। किञ्च शरीरव्याहिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद् व्यानः, तत्र यत् स्पन्दनम् तत् करणजालस्य सामान्यावृत्तिरिति; एवमेवे पञ्चवायवः। तेषाम्—वायूनाम्, स्थानविशेषाः=स्थलविशेषाः, उच्यन्ते=कथ्यन्ते।

हिन्दी—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का नाम अन्तःकरण है। मन का स्थान गला के अन्त में है। बुद्धि का स्थान वदन में, चित्त का नाभि में तथा अहङ्कार का स्थान हृदय में है। इन सबों के विषय संशय, निश्चय, धारणा और अभिमान हैं। अनुमन्धानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति चित्त है। अभिमान की अन्तःकरण वृत्ति अहंकार है। चित्त का अन्तर्भाव बुद्धि में है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त पदार्थ का यथार्थ में अन्तराभाव के कारण। इसी प्रकार संकल्पात्मकत्व के अविशेष से चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव है। क्योंकि बुद्धि का विषय अभूतपूर्व है। चित्त का विषय उसका पूर्वानुभव है और मन का विषय भीतर एवं बाहर दोनों ही है। किन्तु अहङ्कार का कष्ट ग्रस्त नश्वर शरीर आत्मा ही है। प्राण-अपान-व्यान-उदान-तथा अपान इन पाँच भीतरी वायुओं का ही अन्तःकरण का साधारण व्यापार कहते हैं, क्योंकि जीवनादि द्वारा यह पाँच वायु सारे कारणों के व्यापार के बीज हैं। अब इन सबों का स्थान विशेष बतलाते हैं।

निर्वचन—स्था + ल्युट् = स्थानम्। वद् + ल्युट् = वदनम्। चित् + क्त + चित्त, नह + इञ् = नाभिः, भश्चान्तादेशः। अन्तर् + भू + घञ्=अन्तर्भावः। विषण्विन्ति स्वात्मकतया विषयिणं सम्बध्नन्तिवि + सि + अच् + षत्वम् = विषयट्। परि + छिद् + क्तिन् = परिच्छित्तिः। रूप् + क्, भावे अच् वा रूप + त्व=पूर्व् + अच् = पूर्वः। वह + इस् वहिर्भवः + ष्यञ् + टिलोपः वाह्यः। उप् + रञ् + क्त = उपरक्तः।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिदेशतः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

एतेषां विषयाः। प्राणः प्रागननवान्। अपानः अवागननवान्। उदान ऊर्ध्वमननवान्। समानः समीकरणवान्। व्यानः विष्वगननवान्॥ २४॥

व्याख्या—हृदि = हृद्देशे, प्राणः = प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य स्थानविशेषः इति। एव गुदे = मलद्वारे, अपानः = अपनयादपानस्तस्य स्थान इति। नाभिदेशतः = नाभिप्रदेशे, समानः = मध्यदेशवर्तीयाहारादीनाम् समं नयनात् समानो वायुस्तस्य स्थानविशेषः, कण्ठदेशस्थः = गलप्रदेशे; उदानः = ऊर्ध्वारोहणात् उत्कर्षादुन्नयनाद् वा उदानसंज्ञकः वायुस्तस्य स्थान इति। व्यानः सर्व-

शरीरगः = शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद् व्यानस्तेन सर्वशरीरग इति।

एतेषाम् = पञ्चवायूनाम्, विषयाः = विसिन्वन्ति स्वात्मकतया विषयिणं संबध्नन्ति विषयाः = ज्ञानेन्द्रियैः प्राप्तपदार्था इति। प्राणः = प्राणवायुः प्राक् = प्रथमतः। अननवान् = श्वसितवान्, अपानः = अपानवायुः, अवाग्गमनवान् = अपनयनात्, अपानः, तत्र यत्र मलादेरपनयनम् तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्यातः अवाग्गमनवान् उदानम् ऊर्ध्वगमनवान् = उदानो नाभिदेशमस्तकान्तर्गोचरः, तत्रोदाने यत् रसाद्यूर्ध्वनयनव्यापारस्तत्र सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिस्तेनोर्ध्वगमनवान्। समानः समीकरणवान् = समानो मध्यदेशवर्तीय आहारादीनाम् समं नयनात् समानो वायुः, तत्र यत् रसानाम् नाडीष्वनुरूपनयनम् अतः समीकरणवान्। व्यानः विष्वगननवान् = शरीरव्याप्तिः अभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकशवत् व्यानस्तत्र यत् स्पन्दनम् तत् शरीरव्यापनम्ः अतः व्यानः विष्वगननवान्॥ २४॥

हिन्दी—इन प्राणादि पांच वायुओं का स्थान कहते हैं—

हृदय में प्राणवायु का, मलद्वार में अपान वायु का, नाभिदेश में समान वायु का, कण्ठदेश में उदान वायु का और सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु का निवास स्थान है।

इनके विषय हैं—प्राणवायु सर्वप्रथम श्वसितवान् है, अपान वायु अधोगमनवान् है, उदान वायु ऊपर की ओर चलने वाली है। समानवायु समीकरणवान् है तथा व्यान वायु सर्वत्र व्याप्त हैं॥ २४॥

निर्वचन—अन् + ल्युट् = अननम्। विपुम् अञ्चतीति विपु + अञ्च् + क्विन् = विष्वक्।

एतेषामुपवायवः पञ्च—

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जय इति।

एतेषां विषयाः।

नागादुद्गिरणञ्चापि कूर्मादुन्मीलनं तथा।

धनञ्जयात् पोषणञ्च देवदत्ताच्च जृम्भणम्॥

कृकराच्च क्षुतं जातमिति योगविदो विदुः।

एतेषां ज्ञानेन्द्रियादीनामधिपतयो दिगादयः।

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।

तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः॥

विशिष्टो विश्वस्रष्टा च विश्वयोनिरयोनिजः।

क्रमेण देवताः प्रोक्ताः श्रोत्रादीनां यथाक्रमात्॥

एषु प्राणमयकोषः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः । मनोमयः इच्छाशक्तिमान् करणरूपः । विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः । एतत् सर्वं मिलितं लिङ्गशरीरमित्युच्यते । कोषत्रयमुच्यते ॥ २५ ॥

व्याख्या—एतेषामुपवायवः पञ्च = एतेषाम् पूर्वकथितपञ्चानां प्राणादिवायूनाम् नाग-कूर्म-कृकर-देवदत्त-धनञ्जयाख्याः पञ्च उपवायवः। तेषाम् पूर्वकथितोपवायूनाम्, विषयाः = ज्ञानेन्द्रियैः प्राह्यपदार्थाः कथ्यन्ते।

नागात् = नागसंज्ञकशरीरस्थवायोः, उद्गिरणं निःसरति, कूर्मात् = कौ जले ऊर्मिः वेगोऽस्येति कूर्मस्तस्मात् उन्मीलनम् = प्रकाशितम् भवति, धनञ्जयात् = धनञ्जयशब्दस्य व्युत्पत्तिः—'सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमादाय केवलम्। मध्ये धनस्य तिष्ठामि, तेनाहुर्मां धनञ्जयः। अग्नेर्विशेषणम् तस्मात् धनञ्जयात्, पोषणम् = पालनम् भवति, देवदत्तात् = एतदाख्यात्, जृम्भणम् = जृम्भणोन्मुखम् भवति। कृकरात् = एतदाख्यात्, क्षुतम्, जातम् = उत्पन्नं भवति, इति = इत्थम्, योगविदः = योगज्ञाः, विदुः = जानन्ति. एतेषाम् = पूर्वकथितानाम्, ज्ञानेन्द्रियादीनाम् = चक्षुःश्रोत्रादीनाम्, अधिपतयः=स्वामिनः, दिगादयः = दिग् आदिर्येषाम् ते दिगादयः क्रमेण = क्रमशः श्रोत्रादीनाम् = श्रोत्रघ्राणेन्द्रियाणाम् यथाक्रमात् देवताः प्रोक्ताः कथिताः, तद्यथा क्रमशः—दिग् = दिशा, वातः = वायुः, अर्कः = सूर्यः, प्रचेताः = वरुण., वह्निः = अग्निः, इन्द्रः = शचीपतिः उपेन्द्रः = चक्रपाणिः, मित्रः = आदित्यः चन्द्रः = निशाकरः, चतुर्वक्त्रः = चतुराननः, रुद्रः = शंकरः, क्षेत्रज्ञः = दक्षः, ईश्वरः = शक्तिसम्पन्नः, विशिष्टः = विरूपगः विश्वस्रष्टा = विधाता, विश्वयोनिस्तथा अयोनिजः। एषु = एतेषु, प्राणमयकोषः क्रियाशक्तिमान् स्वरूपेण कार्यरूपोऽस्ति। एवं प्रकारेण मनोमयकोषस्तु इच्छाशक्तिमान् भूत्वा करणरूपेण स्थितोऽस्ति विज्ञानमयकोषः ज्ञानशक्तिमान् भूत्वा कर्तृरूपेण अवस्थितोऽस्ति। एतत् सर्वम् मिलित्वा लिङ्गशरीरम् इत्युच्यते। एवं लिङ्गशरीरं व्याख्याय। कोषत्रयम् = प्राण-मनो-ज्ञानरूपेण कोषत्रयम् उच्यते= व्याख्यायते ॥ २५ ॥

अनुवाद—इन सबों के पाँच उपवायु हैं। यथा—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। इन पाँचों के विषय हैं—नाग से डकार और कूर्म से उन्मीलन होता है। धनञ्जय से पोषण होता है, देवदत्त से जृम्भण और कृकर, से क्षुत् होता है, योग जानने वाले विद्वान् ऐसा कहते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के अधिपति दिगादि हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों के यथाक्रम देवता, दिग्, वात, अर्क, प्रचेतस्, अश्वि, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्रक, चन्द्र, चतुर्वक्त्र, रुद्र, क्षेत्रज्ञ, ईश्वर, विशिष्ट, विश्वस्रष्टा, विश्वयोनि एवं अयोनिज हैं। इन सबों में प्राणमय कोष क्रियाशक्तिमान् होने के कारण कार्य रूप है। मनोमय कोष इच्छा शक्तिमान् होने के कारण करण रूप है। विज्ञानमय कोष ज्ञानशक्तिमान् होने से कर्तृरूप है। ये सभी मिलकर लिङ्गशरीर कहा जाता है। अब प्राणमय, मनोमय, एवं विज्ञानमय कोषत्रय कहते हैं ॥ २५ ॥

निर्वचन—उद् + मील् + ल्युट् = उन्मीलनम्। धन + जि + खच् + मुम् = धनञ्जयः। जृम्भ + ल्युट् = जृम्भणम्। अधि + पा + डति = अधिपतिः।

तथा चोक्तम्—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्॥ २६॥

लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या लिङ्गं शरीरमित्युच्यते। कथं लीनं? श्रवणमननादिना गमयति ज्ञापयति। शीर्यत इति व्युत्पत्त्या शरीरमित्युच्यते। कथं शीर्यते इति चेत्? अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेन शीर्य्यते॥ २७॥

दह भस्मीकरण इति व्युत्पत्त्या लिङ्गदेहस्य पृथिवीपुरःसरं क्षय इत्युच्यते॥ २८॥

व्याख्या—तथा चोक्तम्—पञ्चप्राणाः = प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः। मनः = संकल्पः, बुद्धिः, अध्यवसायः, दशेन्द्रियैः—चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि एवं वाक्पाणिपादपायूपस्थान्, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि तैः दशेन्द्रियैः, समन्वितम् = सम्मिलितम्, अपञ्चीकृतभूतोत्थम् = अपञ्चीकृतमहत्तत्त्वोत्थम्, भोगसाधनम् = सुखदुःखसाक्षात्कारकरणम् सूक्ष्माङ्गम् = लिङ्गशरीरम् अस्ति॥ २६॥

लीनमर्थं गमयतीति व्युत्पत्त्या = निर्वचनेन, लिङ्गम्, शरीरम् = देहम्, इत्युच्यते = इति कथ्यते। कथम् = केन प्रकारेण, लीनम् = प्रच्छन्नम्? श्रवणमननादिना = वेदान्तवाक्यचिन्तनादिना, गमयति—ज्ञापयति। 'शीर्यते'—इति व्युत्पत्त्या = निर्वचनेन, शरीरम् = देहम्, इत्युच्यते = कथ्यते। कथम्=केन प्रकारेण, शीर्यते=क्षीयते, इति चेत्=इत्याशंक्य समाधत्ते—अहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैकत्वस्य= ब्रह्मजीवैकत्वस्य, ज्ञानेन = बोधेन शीर्यत इति॥ २७॥

'दह भस्मीकरणे' इति व्युत्पत्त्या=इति निर्वचनेन, लिङ्गदेहस्य=सूक्ष्मशरीरस्य, पृथवीपुरःसरम्, क्षयः = विनाशः, इत्युच्यते=कथ्यते इति॥ २८॥

अनुवाद—ऐसा कहा है—पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दश इन्द्रियों से समन्वित अपञ्चीकृत महत्तत्त्व से उठा हुआ भोग के साधन स्वरूप यह सूक्ष्माङ्ग है॥ २६॥

'लीनम् अर्थम् गमयति' इस व्युत्पत्ति से लिङ्ग शरीर बना है। यह 'लीन' अर्थात् प्रच्छन्न कैसे है? श्रवण, मनन आदि से ही यह जाना जाता है 'अतः यह लीन है।' 'शीर्यते' इस व्युत्पत्ति से यह शरीर बना है। 'शीर्यते' यह कैसे? उत्तर देते हैं—मैं ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार ब्रह्म और आतमा के साथ एकत्व बुद्धि से इसका नाश होता है॥२७॥

'दह भस्मीकरणे' इस व्युत्पत्ति से लिङ्गदेह का पृथ्वीपुरःसर विनाश कहा गया है॥२८॥

निर्वचन—सिध् × णिच् + ल्युट्=साधन। शॄ=क्तः=शीर्णः।

कारणशरीरं नाम, शरीरद्वयहेतुः ॥ २९ ॥

अनाद्यनिर्वचनीयं साभासं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञाननिवर्त्यम् ।

अज्ञानं कारणशरीरमित्युच्यते ॥ ३० ॥

व्याख्या—कारणशरीरम् नाम-किं तावत् कारणशरीरमित्याशंक्य समाधत्ते-शरीरद्वयहेतुः = शरीरद्वयस्य=स्थूलसूक्ष्मरूपदेहद्वयस्य, हेतुः=निमित्तम् ॥ २९ ॥

अनादि, न आदिर्यस्य, तद् आदिरहितम्, अनिर्वचनीयम् = न निर्वचनीयम्, अनिवर्चनीयम् = अकथनीयम्, साभासम् = आभासेन सहितम् साभासम् = सप्रकाशम्, ब्रह्म च आत्मा च = ब्रह्मात्मा तयोः एकत्वम् = एकस्य भावः एकत्वम्, तस्य ज्ञानम् = प्रवीणता, तेन निवर्त्यम् । अज्ञानम् = ज्ञानराहित्यं, कारणशरीरञ्च= कारणदेहम् इति = एवम्, उच्यते = कथ्यते ॥ ३० ॥

अनुवाद—सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरद्वय के हेतु का नाम कारणशरीर है ॥ २९ ॥

आदिरहित, अकथनीय एवं प्रकाशयुत ब्रह्म और आत्मा का एकत्व ज्ञान-निवर्त्य है। अज्ञान को कारणशरीर कहते हैं ॥ ३० ॥

निर्वचन—आ + भास् + अच् = आभासः = आभासेन सह साभासः ।

तथा चोक्तम्—

अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।

उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥

शीर्यते इति व्युत्पत्त्या शरीरमित्युच्यते । कथमिति चेत् ? ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेन शीर्यते । दह भस्मीकरण इति व्युत्पत्त्या कारणशरीरस्य पृथिवीपुरःसरं क्षय इत्युच्यते । अनृतजडदुःखात्मकमित्युक्तम् । अनृतं नाम कालत्रयेषु अविद्यमानवस्तु अनृतमुच्यते । जडं नाम स्वविषयपरविषयज्ञानरहितं वस्तु जडम् इत्युच्यते । दुःखं नाम अप्रीतिरूपं वस्तु दुःखमित्युच्यते । समष्टिव्यष्ट्यात्मकमित्युक्तम् । किं समष्टिः ? किं व्यष्टिः ? यथा वनस्य समष्टिः । किं व्यष्टिः ? यथा वृक्षस्य व्यष्टिः । यथा वा जलाशयस्य समष्टिः जलस्य व्यष्टिः । तद्वदनेकशरीरसमष्टिः । एकशरीरस्य व्यष्टिः । अवस्थात्रयं नाम जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः । जागरणं नाम ? इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरणम् । स्वप्नो नाम ? जागरितसंस्कारजप्रत्ययः सविषयः । सुषुप्तिर्नाम सर्वविषयज्ञानाभावः । जाग्रत्स्थूलशरी-

राभिमानी विश्वः । स्वप्न-सूक्ष्मशरीराभिमानी तैजसः । सुषुप्ति-कारणशरीराभिमानी प्राज्ञः । कोषपञ्चकं नाम अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाख्याः । अत्र मयट्प्रत्ययो विकारार्थे । तथा च—

व्याख्या—तथा च उक्तम् = कथितम्—

अनादि = आदिरहितम्, अविद्या = मायापरपर्याया अज्ञानता, अनिर्वाच्या = निर्वक्तुमशक्या, कारणम्, हेतुः उपाधिः = प्रवञ्चना, उच्यते = कथ्यते । उपाधित्रितयात् = प्रवञ्चनात्रितयात्, अन्यम् = भिन्नम्, आत्मानम् = ब्रह्मरूपम् = अवधारयेत् = निर्धारयेदिति ॥

'शीर्यते' इति व्युत्पत्त्या = इति निर्वचनेन शरीरम् = देहम्, इत्युच्यते = इति कथ्यते, कथम् = केन प्रकारेण, इति चेत् = इत्थं भवेत् । ब्रह्म = निराकारं निर्गुणं च परब्रह्म अस्ति तावन्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम् सर्वज्ञम् सर्वशक्तिसमन्वितम् तथा 'समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते' भर्तृ० ३।८४, तथा च आत्मा=जीवः,—'आत्मानम् रथिनम् विद्धि शरीरम् रथमेव तु'—कठ ३।३। तयोः एकत्वम् = एकस्य भावः एकत्वम्, अभेदः तज्ज्ञानेन = बोधेन, शीर्यते = क्षीयते । 'दह भस्मीकरणे' इति व्युत्पत्त्या = इति निर्वचनेन, कारणशरीरस्य = आन्तरिकबीजरोपणभूतदेहस्य, पृथ्वीपुरःसरम् क्षयः = विनाशः, इत्युच्यते = इति कथ्यते । अनृतजडदुःखात्मकमित्युच्यते = मिथ्या त्रिकालबाध्यं कथ्यते । अनृतम् नाम किं तावदनृतमित्युच्यते—कालत्रयेषु = त्रिकालेषु, (भूतभविष्यद्वर्त्तमानेषु) अविद्यमानम् = असत्, वस्तु = पदार्थः, अनृतम् = असत्यम्, उच्यते = कथ्यते । जडं नाम = किं तावत् जडमित्युच्यते-स्वविषयं-आत्मसम्बन्धि परविषयं = अन्यसम्बन्धि वा, ज्ञानरहितम् = बोधशून्यम्, वस्तु = पदार्थः—जडमित्युच्यते = जड इति कथ्यते । दुःखम् नाम किं तावत् दुःखमित्युच्यते—अप्रीतिरूपम् = अरुचिकरम्, वस्तु = पदार्थः, दुःखम् कष्टमित्युच्यते = कथ्यते । समष्टिव्यष्ट्यात्मकमित्युक्तम्—समष्टिः = समुच्चयात्मकव्याप्तिः, व्यष्टिः = एकः अंशः, तदात्मकेति कथितम् । किं समष्टिः ? कि व्यष्टिः ? इत्याशंक्या च समाधते—यथा = येन प्रकारेण, वनस्य = अरण्यस्य, समष्टिः = समुच्चयात्मकव्याप्तिर्भवति, वृक्षस्य = तरोः, व्यष्टिः = वैयक्तिकता भवति, तद्वत् = तथैव, अनेकशरीरम् = बहूनि देहानि समष्टिः समूहो भवति, एकशरीरस्य = एकदेहमात्रस्य, व्यष्टिः = वैयक्तिकता भवति । वा = अथवा यथा = येन प्रकारेण, जलाशयस्य = सागरस्य, समष्टिः = समुच्चयात्मकव्याप्तिर्भवति तथा जलस्य = सलिलस्य, व्यष्टिः = वैयक्तिकत्वम् भवति । तद्वत् = तथैव अनेकशरीराणाम् = बहूनां देवहानाम् समष्टिः = समुच्चयात्मकव्याप्तिर्भवति, एकस्य शरीरस्य = देहमात्रस्य व्यष्टिः = वैयक्तिकता भवति । अवस्थात्रयं नाम किं तावदवस्थात्रयमित्युच्यते—जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्तयः । जागरणं नाम ? किं तावत् जागरणमित्युच्यते—इन्द्रियैः = शरीरावयवैः, अर्थोपलब्धिः = ज्ञानावाप्तिः, नाम जागरणम् = अवस्थाविशेष इति । स्वप्नो नाम ? किं तावत् स्वप्न इति = जागरित

संस्कारजप्रत्ययः = प्रबुद्धसंस्कारोत्पन्नविश्वासः, सविषयः = विसिन्वन्ति स्वात्मकतया विषयिणम् सम्बध्नन्ति तैः सह सविषयः इति। सुषुप्तिर्नाम—किं तावत् सुषुप्तिरित्युच्यते सर्वविषयज्ञानाभावः = अखिलविषयाणां बोधशून्यत्वम्। जाग्रत् स्थूलशरीराभिमानी विश्वः = प्रबुद्धावस्थायाम् निखिलसंसृतिः, स्थूलशरीराणाम् = नश्वरदेहानाम् अभिमानी आत्माभिमानी भवति, स्वप्नः = स्वप्नावस्थायाम्, सूक्ष्मशरीराभिमानी = लिङ्गदेहाभिमानी, तैजसः = प्रकाशयुक्तो भवति। सुषुप्तिः—कारणशरीराभिमानी = मूलतत्त्वदेहाभिमानी, प्राज्ञः = मनीषी। कोषपञ्चकं नाम—किं तावत् पञ्चकोषमिति? कथ्यते—अन्नमयकोषः, प्राणमयकोषः, मनोमयकोषः, विज्ञानमयकोषः, आनन्दमयकोषश्चेति। अत्र = अस्मिन् प्रसंगे मयट्प्रत्ययो विकारार्थे। तथा च—

अनुवाद—और ऐसा कहा है—

अनादि, अविद्या और माया का रूप कारण को उपाधि कहते हैं और तीनों उपाधि से भिन्न आत्मा को जानना चाहिए॥

'शीर्यते' इस व्युत्पत्ति से 'शरीर' बनता है। यह कैसे? ब्रह्म अर्थात् (वेदान्तियों के मतानुसार ब्रह्म ही इस दृश्यमान संसार का निमित्त और उपादान कारण है, यही सर्व-व्यापक आत्मा और विश्व की जीवशक्ति है, यही वह मूलतत्त्व है जिससे संसार की सभी वस्तुएं पैदा होती हैं तथा जिसमें फिर वह लीन हो जाती है। आत्मा अर्थात् जीव में एकत्व के बोध से विनाश होता है। 'दह भस्मीकरणे' इस व्युत्पत्ति से कारण शरीर का 'पृथ्वीपुरःसर' विनाश कहा जाता है। अनृत और जड़ दुःखात्मक है। अनृत किसे कहते हैं? भूत, भविष्य और वर्त्तमान कालत्रय में अविद्यमान वस्तु अनृत है। जड़ नाम अपने और पराये विषय के ज्ञान से रहित वस्तु जड़ है। अप्रीतिकर वस्तु को दुःख कहते हैं। यह समष्टि एवं व्यष्ट्यात्मक है। समष्टि क्या है? व्यष्टि क्या है? जैसे जंगल समष्टि अर्थात् समुच्चयात्मक व्याप्ति है और उस जंगल का एक पेड़ व्यष्टि अर्थात् एक है। अथवा सागर पानी की समष्टि है और सागर का पानी उसकी व्यष्टि है। उसी प्रकार शरीरों का समूह समष्टि है और उनमें से कोई एक देह व्यष्टि है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये अवस्थात्रय हैं। इन्द्रियों के द्वारा अर्थोपलब्धि जागरण है। प्रबुद्ध संस्कार से उत्पन्न सविषयक विश्वास स्वप्न है और सभी विषयों के ज्ञान का अभाव सुषुप्ति है।

जाग्रत अवस्था में नश्वर शरीराभिमानी संसार है। स्वप्न-अर्थात् लिंगदेहाभिमानी प्रकाशयुक्त है। सुषुप्ति-कारणशरीराभिमानी मनीषी कहते हैं। कोषपञ्चक का नाम है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय। यहाँ मयट् प्रत्यय विकार के अर्थ में है। और भी—

निर्वचन—सम् + अश् + क्तिन् = समष्टिः। उप + लभ् + क्तिन् = उपलब्धिः। जागृ + क्तः = जागरितः। सम् + कृ + घञ् = संस्कारः। अभि + मन् + णिनिः = अभिमानी। प्रकर्षेण जानातीति विग्रहे-प्र + ज्ञा + कः प्रज्ञः ततः स्वार्थे अण् = प्राज्ञः।

पितृभुक्तान्नजाद् वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्द्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥ ३१॥

अन्वयः—पितृभुक्तः, अन्नजात् , वीर्यात् , जातः, अन्नेन एव, वर्द्धते, स, अन्नमयः, देहः, तद्, अभावतः, आत्मा, प्राक् , उर्ध्वं न ॥ ३१ ॥

व्याख्या—पितृभुक्तः = मात्रपितृभ्यामन्ने भुक्ते सति, अन्नजात् = उपभुक्ताहार-सम्भवात , वीर्यात् = शुक्रशोणितसंयोगात् , जातः = समुत्पन्नः, अन्नेन एव = उपभुक्त-भोजनेनैव, वर्द्धते = एधते, सः = असौ, अन्नमयः = स्थूलः देहः शरीरं च = पुनः तदभावतः = तद्विरहात , आत्मा = जीवः, प्राक् = पूर्वम्, प्राक् सृष्टेः केवलात्मनः, उर्ध्वम् = अग्रे, न = नहि ॥ ३१ ॥

अनुवाद—माता-पिता के अन्न भोजन करने के कारण, उस अन्न से शुक्र-शोणित का निर्माण होता है, फिर उस शुक्राशोणित के संयोग से देह की उत्पत्ति होती है और उसी अन्न से इस शरीर की वृद्धि होती है, अतः यह शरीर अन्नमय कहा गया है। उसके अभाव में उससे पूर्व एवं आगे आत्मा वह नहीं है ॥ ३१ ॥

निर्वचन—जन + क्तः=जातः। अद् + क्तः, अन् + नन् वा = अन्नम्।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्त्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—देहे, पूर्णः, बलम्, यच्छन् , यः, अक्षाणाम्, प्रवर्त्तकः, चैतन्य-वर्जनात; असौ, प्राणमयः, वायुः, न, आत्मा ॥ ३२ ॥

व्याख्या—देहे = शरीरे, पूर्णः = आपूरितः, बलम् = सामर्थ्यम्, यच्छन् , प्रयच्छन् , यः = कश्चित् , अक्षाणाम् = इन्द्रियाणाम्, प्रवर्त्तकः = सञ्चालयिता। चैतन्यवर्जनात = चैतन्याभावात् असौ = एषः, प्राणमयः वायुः = प्राणवायुः, न = नहि, आत्मा = जीवः ॥ ३२ ॥

अनुवाद—देह में पूर्ण बल प्रदान करते हुए जो इन्द्रियों का प्रेरक है, उसे प्राणवायु कहते हैं। यह चैतन्य से वर्जित है—आत्मा नहीं है ॥ ३२ ॥

निर्वचन—पूर + क्तः=पूर्णः। प्र + वृत् + णिक् + ण्वुल्=प्रवर्त्तकः। चेतन + ष्यञ्= चैतन्यः। वृज् + ल्युट्=वर्जनम्, तस्मात्।

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—गेहादौ, देहे, यः, अहन्ताम्, ममताम्, करोति, कामाद्यवस्थया, (यः) भ्रान्तः, असौ न आत्मा, (अपितु) मनोमयः (अस्ति)।

व्याख्या—गेहादौ = सदनादौ, यः = कश्चित् , अहन्ताम् = अहंमन्यताम् ममताम् = ममत्वम्, करोति = विदधाति, कामादेः = वासनादेः, अवस्थया = दशया। (यः) भ्रान्तः = भ्रमितः, असौ = सः. न = नहि, आत्मा = जीवः, अपितु, मनोमयः कोषः अस्तीति शेषः ॥ ३३ ॥

अनुवाद—गृहादि में, देह में जो अहंमन्यता एवं ममता उत्पन्न करता है तथा कामादि अवस्था से जो भ्रान्त है वह आत्मा नहीं, मनोमय है ॥ ३३ ॥

निर्वचन—क्रम + णिङ् + अम् = कामम्। अव + एस्था + अङ् + अवस्था। भ्रम + क्तः = भ्रान्तः।

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—बोधे, वपुः, सुप्तौ, लीना, आनखाग्रगा, व्याप्नुयात्, चिच्छायोपेतधीः, विज्ञानमयशब्दभाक्, न, पुनः आत्मा ॥ ३४ ॥

व्याख्या—बोधे = जाग्रदवस्थायां, वपुः = शरीरम्, सुप्तौ = निद्रावस्थायाम्, लीना = प्रच्छन्ना, आनखाग्रगा = नखपर्यन्तञ्च मार्गदर्शिका, व्याप्नुयात् = अधिकारं कुर्यात्, चित् = प्रज्ञा, तस्याः छायया उपेतधीः=युक्तबुद्धिः, विज्ञानमयशब्दभाक् = विज्ञानमयकोष इति वाच्यः न = नहि, आत्मा = जीवः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—बोध में शरीर सुप्तावस्था में लीन, आनखाग्रगामी व्याप्त, प्रज्ञा दृष्टि भ्रम से प्राप्त बुद्धि, विज्ञानमय कोष है, न कि आत्मा ॥ ३४ ॥

निर्वचन—वि + आप् + लिङ्, व्याप्नुयात् । अङ्ग + रन् × नलोपश्च = अग्र । नट् + ख हकारलोपः नखः । उप + इ + क्तः उपेतः ।

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक् ।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥ ३५ ॥

अन्वयः—पुण्यभोगे, काचित्, वृत्तिः, अन्तर्मुखा, आनन्दप्रतिबिम्बभाक्, (साच) भोगशान्तौ, निद्रारूपेण, लीयते ॥ ३५ ॥

व्याख्या—पुण्यभोगे—पुण्यस्य = सुकृतस्य भोगः = उपभोगः, पुण्यभोगस्तस्मिन् पुण्यभोगे, काचित् = काऽपि वृत्तिः = व्यापारः, प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्चवायवः सर्वेन्द्रियाणाम् सामान्या वृत्तिः, यतः प्राणो नाम वायुः मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनम् कर्म तत् त्रयोदशविधस्यापि सामान्या वृत्तिरिति शेषः । अन्तर्मुखा = अन्तर्लीना, आनन्दानाम् = हर्षाणाम्, प्रतिबिम्बभाक् = प्रतिबिम्बाख्या इति भोगशान्तौ = उपभोगनिवृत्तौ, निद्रारूपेण = निद्रास्वरूपेण, लीयते = लीना भवतीति ॥ ३५ ॥

अनुवाद—पुण्य के भोग में अन्तर्मुख कोई वृत्ति आनन्दमय वायु के नाम से ख्यात है। भोगशान्ति के बाद वही वृत्ति निद्रा रूप से लीन हो जाती है ॥ ३५ ॥

देहादभ्यन्तरं प्राणः प्राणादभ्यन्तरं पुनः ।
ततः कर्त्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥ ३६ ॥

अन्वयः—देहात्, अभ्यन्तरम्, प्राणः, प्राणात्, पुनः, अभ्यन्तरम्, ततः, कर्त्ता, ततः, भोक्ता, सा, गुहा, इयम्, परम्परा ॥ ३६ ॥

व्याख्या—देहात् = शरीराद्, अभ्यन्तरम्=अन्तः, प्राणः = जीवनवायुः, प्राणात्= जीवनात्, पुनः, अभ्यन्तरम् = अन्तर्गतम्, ततः = तत्पश्चात् कर्त्ता = ब्रह्म इति, ततः = तत्पश्चात्, भोक्ता = उपभोगकर्त्ता परमेश्वरः, सा=चासौ, गुहा=ब्रह्मस्थानम्= इयम् = एषा, परम्परा = अनुबन्धः ॥ ३६ ॥

अनुवाद—देह के भीतर प्राण और फिर प्राण के भीतर, उसके बाद कर्त्ता पुरुष, उसके भीतर भोक्ता पुरुष, वही गुहा अर्थात् ब्रह्म का निवास स्थान है, यही परम्परा है ॥ ३६ ॥

निर्वचन—प्र + अन् + अच् + घञ् वा=प्राणः ।

स्थूलशरीरम् अन्नमयकोषः ।

मातृपितृभ्यामन्ने भुक्ते सति शुक्रशोणिताकारेण परिणतं तयोः संयोगादेव देहाकारेण परिणमते । कोषवदाच्छादकत्वात् कोष इत्युच्यते । अन्नविकारत्वे सति आत्मानमाच्छादयति । कथम् अपरिच्छिन्नमात्मानं परिच्छिन्नमिव, जन्मादिषड्भाव-विकाररहितमात्मानं जन्मादिषड्भाववन्तमिव, तापत्रयादि-रहितमात्मानं तापत्रयवन्तमिव आच्छादयति, यथा कोषः खड्गमाच्छादयति, यथा तुषस्तण्डुलमाच्छादयति, यथा वा गर्भं जरायुरावरयति, तथा प्राणमयकोषो नाम कर्मेन्द्रियाणि पञ्च प्राणादिवायवः पञ्च, एतत् सर्वं मिलितं सत् प्राणमयकोष इत्युच्यते । प्राणविकारे सति वक्तृत्वादिरहितमात्मानं वक्तार-मिव, दानादिरहितमात्मानं दातारमिव, गमनादिरहितमात्मानं गन्तारमिव, क्षुत्पिपासादिरहितमात्मानं क्षुत्पिपासावन्तमिवावार-यति । मनोमयकोषो नाम ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च मनश्च, एतत् सर्वं मिलित्वा मनोमयकोष इत्युच्यते । कथं मनोविकारे सति संशयादिरहितमात्मानं संशयवन्तमिव, शोकमोहादिरहितमात्मानं शोकमोहादिमन्तमिव, दर्शनादिरहितमात्मानं दर्शनादिमन्तमिवा-वारयति ? विज्ञानमयकोषो नाम ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धिश्च एतत् सर्वं मिलित्वा विज्ञानमयकोष इत्युच्यते । कर्तृत्वभोक्तृ-त्वाद्यभिमानेन इहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्यु-च्यते ॥ ३७ ॥

व्याख्या—मातृपितृभ्याम् = जननीजनकाभ्याम्, अन्ने भुक्ते सति = भोजने कृते सति, शुक्रशोणिताकारेण = रक्तवीर्यरूपेण, परिणतम् = परिवर्त्तितम्, तयोः = रजो वीर्ययोः, संयोगादेव = सम्मिलनादेव, देहाकारेण = शरीररूपेण, परिणमते =

परिणतम्भवति। कोषवत् = कोष इव, आच्छादकत्वात् = आवरकत्वात्, कोष इत्युच्यते कोष इति कथ्यते। अन्नविकारत्वे सति = भोजनानां रूपान्तरत्वे सति, आत्मानम् = जीवम्, आच्छादयति = आवृणोति। कथम् = केन प्रकारेण, अपरिच्छिन्नम् = निःसीमम्, आत्मानम् = जीवम्, परिच्छिन्नम् = ससीमम्, इव = यथा, जन्मादिः = जन्ममरणादिः, यः षड्भावविकारः, तेन रहितम् = उत्पत्तिवृद्धिबाल्यावस्था-यौवन-वार्द्धक्य-मरणादिरहितम्, आत्मानम् = जीवम्, जन्मादिषड्भाववन्तमिव = जन्ममरणादिषड्विकारयुक्तमिव, तापत्रयादिरहितम् = दैहिक-दैविक-भौतिकतापशून्यम् आत्मानम् = जीवम्, पूर्ववर्णिततापत्रयान्वितम्, इव, आच्छादयति = पिदधाति, यथा = येन प्रकारेण, कोषः = आवरणम्, खङ्गम् = करवालम्, आच्छादयति = आवरणम् करोति, यथा = येन प्रकारेण, तुषः = तण्डुलोपरिभागः, तण्डुलम् = शालिम्, आच्छादयति = आच्छादनं करोति, यथावा = अथवा येन प्रकारेण गर्भम् = भ्रूणम्, जरायुः = गर्भाशयः, आवरयति = आच्छादयति, तथा = तेन प्रकारेण, प्राणमयकोषो नाम कर्मेन्द्रियाणि पञ्च = वाक्पाणिपादपायूपस्थाः पञ्चकर्मेन्द्रियादि, पञ्चप्राणादिवायवः = प्राणापानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः, एतत् सर्वम् = निखिलम्, मिलितं सत् = मिलित्वा, प्राणमयकोष इत्युच्यते = कथ्यते। प्राणविकारे सति वक्तृत्वादि = वाक्पटुत्वादि, तेन रहितम् = शून्यम्, वक्तारमिव = भाषणकलायाम् प्रवीणमिव, दानादिरहितमात्मानम् = दानादिशून्यं जीवम्, दातारमिव = दानिनमिव, गमनादिरहितम् = चलनादिरहितम्, आत्मानम् = जीवम्, गन्तारमिव = गमनशीलमिव, क्षुत्पिपासादिरहितम् = क्षुधातृषादिविरहितम्, आत्मानम् = जीवम्, क्षुत्पिपासावन्तमिव = क्षुधितपिपासितमिव, आवरयति = आच्छादयति। मनोमयकोषो नाम—ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च = चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, मनः = संकल्पात्मकं च, एतत् सर्वं मिलित्वा = एतदखिलम् मिलितम्, मनोमयकोष इत्युच्यते = कथ्यते। कथम् = केन प्रकारेण, मनोविकारे सति = चित्तस्य संवेगे सति, संशयादिरहितम् = संदेहादिहीनम्, आत्मानम् = ब्रह्म, संशयवन्तमिव = संदिग्धमिव, शोकमोहादिरहितम् = मनःपीडाऽज्ञानादिहीनम्, आत्मानम् = जीवम्, शोकमोहादिशीलम् इव = यथा, दर्शनादिरहितम् = चाक्षुषप्रत्यक्षादिहीनम्, आत्मानम् = जीवम्, दर्शनादिवन्तमिव = साक्षात्कारवन्तमिव, आवरयति = आच्छादयति। विज्ञानमयकोषो नाम = किं तावत् विज्ञानमयकोष इत्युच्यते—ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च = चक्षुःश्रोत्रादिपञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, च = पुनः, बुद्धिः = संबोधः, एतत् = एष, सर्वम् = अखिलम्, मिलित्वा = एकीभूय, विज्ञानमयकोष, इत्युच्यते = इत्यवबुद्ध्यते, कर्तृत्वं = निर्मातृत्वं, भोक्तृत्वादि = अत्तृत्वादि तस्य अभिमानेन = अहंकारेण, इहलोके = अस्मिन् लोके, परलोके = स्वर्गादिलोके, गामी = गमनशीलः, व्यावहारिकः = व्यवहारावस्थापन्नः, जीवः = आत्मा, इत्युच्यते = इति कथ्यते॥

हिन्दी—माता पिता जो अन्न खाते हैं, वह शुक्र और शोणित के रूप में परिणत हो जाता है। शुक्र और शोणित के संयोग से देह की आकृति बनती है। म्यान की तरह आच्छादक होने के कारण यह 'कोष' कहलाता है। अन्नविकार होने के कारण यह आत्मा का आच्छादन करता है। किस प्रकार निःसीम आत्मा को ससीम की तरह,

जन्ममरणादि षड् भावों के विकार से रहित आत्मा को जन्ममरणादि षड्भाव विकारवान की तरह, तापत्रयादि से रहित आत्मा को तापत्रयान्वित की तरह आच्छादन करता है ? जैसे म्यान तलवार का आवरक है, जैसे भूसी चावल का आच्छादन करती है अथवा जैसे गर्भाशय गर्भ को आच्छादित करता है, उसी प्रकार प्राणमय कोष-पांच कर्मेन्द्रिय और पांच प्राणादिवायु से मिलकर बनता है। प्राण विकार होने पर वक्तृत्वादि रहित आत्मा को वक्ता की तरह, दानादिरहित आत्मा को दाता की तरह, गमनादिरहित आत्मा को गमनशील की तरह, भूख, प्यास से रहित आत्मा को भूखे प्यासे की तरह आच्छादित करता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय एवं मन मिल कर मनोमयकोष बनता है। तो फिर कैसे ? मनोमय विकार होने पर संशयादि रहित आत्मा को संदेहशील की तरह, शोक मोहादिरहित आत्मा को शोक मोहादिमान् की तरह, प्रत्यक्षदर्शन से रहित आत्मा को साक्षात्कारयुक्त की तरह आच्छादित करता है। ज्ञानेन्द्रिय पांच और बुद्धि मिलकर विज्ञानमयकोष बनता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्वादि के अभिमान से इहलोक और परलोकगामी व्यावहारिक जीव कहलाता है ॥ ३७ ॥

निर्वचन—आ + छद् + णिच् + ल्युट् = आच्छादनम्। वि + कृ + घञ्=विकारः, कृ + तृच् + त्व = कर्तृत्वम्। व्यवहार + ठन् = व्यावहारिकः।

विज्ञानविकारत्वे सति अकर्त्तारमात्मानं कर्त्तारमिव, अविज्ञातारमात्मानं विज्ञातारमिव, निश्चयरहितमात्मानं निश्चयवन्तमिव, जाड्यादिरहितमात्मानं जाड्यादिमन्तमिवावारयति। आनन्दमयकोषो नाम प्रियमोदप्रमोदवृत्तिमत् अज्ञानप्रधानमन्तःकरणम् आनन्दमयकोष इत्युच्यते। कथं प्रियमोदप्रमोदरहितमात्मानं प्रियमोदप्रमोदवन्तमिव, अभोक्तारमात्मानं भोक्तारमिव परिच्छिन्नसुखरहितमात्मानं परिच्छिन्नसुखवन्तमिव आच्छादयति। इष्टपुत्रादिदर्शनजं प्रियम्। प्रियलाभनिमित्तो हर्षो मोदः। स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः। एतेषु कोषेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। तत्र हेतुमाह—योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत् कोषत्रयं मिलितं सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते। समष्टिव्यष्टी शास्त्रान्तराद्विशेषतो ज्ञेये शरीरत्रयविलक्षणत्वमुच्यते ॥ ३८ ॥

व्याख्या—विज्ञानविकारत्वे सति = प्रज्ञा-संवेगत्वे सति, अकर्त्तारम् = कर्तृत्वाभिमानशून्यम्, आत्मानम् = जीवम्, कर्त्तारमिव = निर्मातारमिव, अविज्ञातारम् =

अवेत्तारम्, आत्मानम् = जीवम्, विज्ञातारमिव = बोद्धारमिव, निश्चयरहितम् = संदिग्धम्, आत्मानम् = जीवम्, निश्चयवन्तमिव = असंदिग्धमिव, जाड्यादिरहितम् = निष्क्रियत्वादिरहितम्, आत्मानम् = जीवम्, जाड्यादिमन्तमिव = अनासक्तमिव, आवारयति = आच्छादयति। आनन्दमयकोषो नाम आनन्दमयकोषश्च, प्रिय-मोद-प्रमोद-वृत्तिमत्—प्रियम् = मनोहरम्, मादः = आह्लादः, प्रमोदः = प्रकृष्टहर्षः, च तेषां वृत्तिमत् = अस्तित्ववान्, अज्ञानप्रधानम् = अविद्यामूलकम्, अन्तःकरणम् = चित्तम्, आनन्दमयकोषः, इत्युच्यते = कथ्यते। कथम् = केन प्रकारेण, प्रियमोद-प्रमोदरहितम् = प्रियमोदप्रमोदहीनम्, आत्मानम् = जीवम्, प्रियमोदप्रमोदवन्तमिव, अभोक्तारम् = विरक्तम्, आत्मानम् = जीवम्, भोक्तारमिव = अनुरक्तमिव, परिच्छिन्नसुखरहितम् = परिमितसुखहीनम्, आत्मानम् = जीवम्, परिच्छिन्नसुखवन्तमिव = परिमितसुखवन्तमिव, आच्छादयति = आवरयति। किं तावत् प्रियमित्युच्यते—पुत्रादिदर्शनजम् = पत्नीपुत्रादिदर्शनोत्पन्नम् सुखम् नाम प्रियम्। प्रियस्य लाभः प्रियलाभः तन्निमित्तः हर्षः = प्रसन्नता एव मोदः। स एव प्रकृष्टो हर्षः = प्रमोदः = प्रकृष्टहर्षः। एतेषु कोषेषु = पूर्वकथितकोषेषु मध्ये विज्ञानमयः, ज्ञानशक्तिमान् = प्रवीणताजन्यशक्तिमान् कर्तृरूपः = विधातृरूपः। मनोमयः नाम-इच्छाशक्तिमान् = प्रत्यक्षज्ञानस्यान्तरिकाङ्क्षम्, करणरूपः अर्थात् येन ज्ञेयपदार्थः आत्मानम् ज्ञानवन्तं करोति। प्राणमयः कोषश्च क्रियाशक्तिमान् अर्थात् क्रियान्वयित्वम् तेन कार्यरूपः। तत्र = तस्मिन् स्थाने हेतुः कारणम्, आह योग्यत्वादेव = सामर्थ्यादेव, एतेषाम् = पूर्वकथितानाम्, विभागः = पृथकता, इति वर्णयन्ति = कथयन्ति। एतत् = एष, कोषत्रयम् = त्रिसंख्यकम् कोषम्, मिलितम् = मिलित्वा, सूक्ष्मशरीरम् = लिङ्गदेहम्, इत्युच्यते = कथ्यते। समष्टिव्यष्टी, समष्टिः = समूहः, व्यष्टिः = वैयक्तिकता, शास्त्रान्तरात् = अन्यशास्त्रात्, विशेषतः = विशेषरूपेण, ज्ञेये = बोध्ये, शरीरत्रयविलक्षणत्वम्, उच्यते = कथ्यते ॥ ३८ ॥

अनुवाद—विज्ञान विकार होनेपर कर्तृत्वाभिमानशून्य आत्मा को कर्त्ता की तरह, अविज्ञेय आत्मा को विज्ञाता की तरह, संदिग्ध आत्मा को निश्चयवान् की तरह, निष्क्रियत्वादिहीन आत्मा को अनासक्त की तरह आच्छादित करता है। प्रिय, मोद और प्रमोद वृत्तिवाले अज्ञानप्रधान अन्तःकरण को आनन्दमय कोष कहते हैं। तो फिर, कैसे प्रिय मोद प्रमोद रहित आत्मा को प्रिय, मोद, प्रमोदवान् की तरह, अभोक्ता आत्मा को भोक्ता की तरह, परिमित सुख से हीन आत्मा को परिमित सुखवाले की तरह आच्छादित करता है। इस पुत्रादि के साक्षात्कार से उत्पन्न सुख प्रिय है। प्रिय के प्राप्ति निमित्तक हर्ष को मोद कहते हैं। वही हर्ष प्रकृष्ट रूप से प्राप्त होने पर प्रमोद है। इन कोषों के बीच में विज्ञानमय कोष ज्ञानशक्तिमान् कर्त्ता के रूप में है। मनोमय कोष इच्छाशक्तिमान करण रूप में है। प्राणमय कोष क्रियाशक्तिमान कार्य रूप में है। इनमें कारण बतलाते हैं। सामर्थ्य से ही इन सबों के विभाग वर्णन करते हैं। ये तीनों कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाता है। समष्टि और व्यष्टि विशेष रूप से ज्ञेय रहने पर शास्त्रान्तर से समझें। इन तीनों सूक्ष्म, स्थूल एवं कारण रूप शरीरों से विलक्षणत्व कहा जायगा है ॥ ३८ ॥

निर्वचन—वि + कृ + णिनिः=विकारिन्, जड् + ष्यञ्=जाड्यम्, ज्ञा + ल्युट् + ज्ञानम्। वि + भज् + घञ् विभागः।

कथम् सत्यस्वरूपः असत्यस्वरूपो न भवति ?। असत्यस्वरूपः सत्यस्वरूपो न भवति। ज्ञानस्वरूपः जडस्वरूपो न भवति। जडस्वरूपः ज्ञानस्वरूपो न भवति। एवं सुखस्वरूपो दुःखस्वरूपो न भवति। दुःखस्वरूपः सुखस्वरूपो न भवति। एवं शरीरत्रयविलक्षणमुक्त्वा अवस्थात्रयसाक्षित्वमुच्यते ॥ ३९ ॥

व्याख्या—कथम् = केन प्रकारेण ? सत्यस्वरूपः = यथार्थस्वरूपः, असत्यस्वरूपः = अयथार्थरूपः, न = नहि, भवति = जायते। ज्ञानस्वरूपः = प्रज्ञास्वरूपः, जडस्वरूपः = अज्ञानस्वरूपः न भवति=न जायते। जडस्वरूपः=मन्दस्वरूपः, ज्ञानस्वरूपः प्रज्ञारूपः, न भवति = न जायते। एवम् = इत्थम्, सुखस्वरूपः = आनन्दस्वरूपः दुःखरूपः = कष्टात्मकः, न भवति = न जायते। दुःखस्वरूपः = कष्ट-कर पदार्थः सुखस्वरूपो न भवति = आनन्दरूपो न भवति। एवम् = इत्थम्, शरीरत्रयविलक्षणम् = पूर्वकथितशरीरत्रयविलक्षणम्, उक्त्वा = अथयित्वा, अवस्थात्रयसाक्षित्वं = जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसंज्ञावस्थात्रयसाक्षित्वम् = साक्षाद् द्रष्टृत्वम्, उच्यते= कथ्यते ॥ ३९ ॥

अनुवाद—सत्य स्वरूप असत्य रूप कैसे नहीं होता है ? जैसे असत्य स्वरूप सत्य रूप नहीं होता, ज्ञान स्वरूप अज्ञान रूप नहीं होता, जड़ स्वरूप ज्ञानरूप नहीं होता, उसी प्रकार सुखस्वरूप दुःखरूप नहीं होता और दुःखस्वरूप सुखस्वरूप नहीं होता। इस प्रकार शरीरत्रय विलक्षण कह कर अब अवस्थात्रय का साक्षित्व कहते हैं ॥ ३९ ॥

निर्वचन—सह अक्षि अस्य, साक्षाद् द्रष्टा वा साक्षी सह + अक्ष + इनिः = साक्षिन्।

कथम् ? जाग्रदवस्था जाता, जाग्रदवस्था भवति, जाग्रदवस्था भविष्यति। स्वप्नावस्था जाता, स्वप्नावस्था भवति, स्वप्नावस्था भविष्यति। सुषुप्त्यवस्था जाता, सुषुप्त्यवस्था भवति, सुषुप्त्यवस्था भविष्यति। एवमवस्थात्रयमविकारतया जानाति। अत आत्मनः पञ्चकोषविलक्षणत्वं दृष्टान्तरूपेण प्रतिपादयति। ममेयं गौः, ममायं वत्सः, ममायं कुमारः, ममेयं कुमारी, ममेयं स्त्री, एवमादिपदार्थवान् पुरुषो न भवति। तेभ्यो विलक्षणः। तथा मम अन्नमयकोषः, मम प्राणमयकोषः, मम मनोमय-

कोषः, मम विज्ञानमयकोषः, मम आनन्दमयकोषः। एवं पञ्च-कोषवानात्मा न भवति। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी।
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ ४०॥ इत्यादिश्रुतेः॥

व्याख्या—कथम् = केन प्रकारेण, जाग्रदवस्था = प्रबुद्धावस्था-यस्याम् अवस्थायाम् जीवः शब्दस्पर्शादिविषयाणाम् ग्रहणम् करोति। जाता = अभूत्, जाग्रदवस्था भवति = जायते, जाग्रदवस्था, भविष्यति = जनिष्यति। स्वप्नावस्था = सुषुप्तिदशा जाता = अभूत्, स्वप्नावस्था भवति = जायते, स्वप्नावस्था भविष्यति = सम्पत्स्यते। सुषुप्त्यवस्था = प्रगाढनिद्रादशा जाता = अभूत्, भवति = जायते भविष्यति = सम्पत्स्यते। एवम् = इत्थम्, अवस्थात्रयम् = दशात्रयम्, अविकारतया = निर्विकारतया जानाति = वेत्ति। अतः = अस्मात्कारणात् आत्मनः = जीवस्य, पञ्चकोषविलक्षणत्वम् = मनोमयादिपञ्चकोषविभिन्नत्वम्, दृष्टान्तरूपेण = निदर्शनरूपेण, प्रतिपादयति = कथयति। ममेयम् गौः—मम = मदीया, इयम् = एषा, गौः = धेनुः, मम = मदीयः, अयम् = एषः वत्सः = सुतः, मम = मदीयः, अयम् = एषः, कुमारः = बालकः, मम = मदीयः, इयम् = एषा, कुमारी = बालिका, मम = मदीया, इयम् = एषा, स्त्री = पत्नी। एवम् = इत्थम्, आदि = इत्यादि, पदार्थवान् = तत्ववान्, पुरुषः = प्रधानः = व्यक्तिविशेषो वा न भवति = न जायते। तेभ्यः = पूर्वकथितेभ्यः, विलक्षणः = भिन्नः। तथा = तेन प्रकारेण, मम = मदीयः, अन्नमयकोषः, मदीयः प्राणमयकोषः मदीयः मनोमयकोषः, मदीयः विज्ञानमयकोषः, मदीयः आनन्दमयकोषः, एवम् = इत्थम् पञ्चकोषवान्, अन्नादिपञ्चकोषवान्, आत्मा = जीवः, न भवति = न जायते। तेभ्यः पञ्चकोषादिभ्यः विलक्षणः = भिन्नः साक्षी = साक्षात् द्रष्टा॥

अशब्दम् = शब्दभिन्नम्, अस्पर्शम् = स्पर्शरहितम्, अरूपम् = रूपहीनम् अव्ययम् = अविनश्वरं, तथा = तेन प्रकारेण अरसम् = रसहीनम्, नित्यम् = शाश्वतम्, अगन्धवत् = गन्धहीनमिव, यत् = तत्त्वम्, अनादि = आदिरहितम्, अनन्तम् = अन्तरहितम्, महतः = महत्तत्वात्, परम् = अतिश्रेष्ठम्, ध्रुवम् = निश्चितं च, तम् = पुरुषविशेषम्, निचाय्य = निश्चित्य, मृत्युमुखात् = मरणमुखात्, प्रमुच्यते = मुक्तो भवतीति शेषः। इत्यादिश्रुतेः = वेदे निगदितम्॥ ४०॥

अनुवाद—तो फिर कैसे जाग्रत अवस्था हुई? जाग्रत अवस्था होती है, जाग्रत अवस्था होगी? स्वप्नावस्था हुई, स्वप्नावस्था होती है, स्वप्नावस्था होगी? सुषुप्ति अवस्था होती है और सुषुप्ति अवस्था होगी? इस प्रकार तीनों अवस्थाओं के विकार से जाना जाता है। अतः आत्मा का अन्नादि द्वारा निर्मित पाँच कोषों से विलक्षणत्व दृष्टान्त के द्वारा प्रतिपादित करते हैं। मेरी यह गाय है, मेरा यह बछड़ा है, मेरा यह कुमार है, मेरी यह कुमारी है, मेरी यह पत्नी है—इस प्रकार के पदार्थवान् पुरुष नहीं होता है। इन सबों से विलक्षण वह है। उसी प्रकार मेरा यह भौतिक शरीर है, मेरा यह प्राणमय

कोष है, मेरा यह मनोमय कोष है, मेरा यह विज्ञानमय कोष है, मेरा यह आनन्दमय कोष है। इस प्रकार पञ्चकोषवान् भी आत्मा नहीं है, अपितु इन सबों से विलक्षण इन सबों का साक्षात् द्रष्टा आत्मा है।

वह शब्दहीन है, स्पर्शरहित है, उसकी कोई आकृति नहीं हैं, वह अविनाशी है, रसहीन है, नित्य है, गन्धरहित है, अनादि है, अनन्त है, महत् है, सर्वश्रेष्ठ है, ध्रुव है, सर्वसंग्रह है—वह मृत्युमुक्त है ऐसा वेदवचन है ॥ ४० ॥

निर्वचन—सु + स्वप् + क्तिन् = सुषुप्तिः। विगतम् लक्षणं यस्याऽसौ विलक्षणः, तम् विलक्षणम्। दृश् + क्तः = दृष्टः, दृष्टः अन्तः = दृष्टान्तः। अन्नेन निर्मितः पदार्थः अन्नमयः। नि + चि + ल्यप्, निचाय्य।

इदानीमात्मनः सच्चिदानन्दस्वरूपत्वमुच्यते। सद्रूपत्वं नाम केनाप्यबाध्यमानत्वेन कालत्रयेऽप्येकरूपेण विद्यमानत्वमुच्यते। चिद्रूपत्वं नाम साधनान्तरनिरपेक्षतया स्वयं प्रकाशमानः सन् स्वस्मिन्नारोपितसर्वपदार्थावभासकवस्तुत्वं चिद्रूपत्वमित्युच्यते। आनन्दस्वरूपं नाम परमप्रेमास्पदत्वं नित्यनिरतिशयत्वमानन्दत्वमित्युच्यते। नित्यविज्ञानमानन्दं ब्रह्म राति दातुः परायणमिति श्रुतेः। एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्। ब्रह्माहमस्मीति संशयासम्भावनाविपरीतभावनाराहित्येन यस्तु जानाति स जीवन्मुक्तो भवतीति ॥ ४१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचितः आत्मानात्मविवेकः समाप्तः।

व्याख्या—इदानीम् = अधुना, आत्मनः = जीवस्य, सच्चिदानन्दस्वरूपत्वम् उच्यते = कथ्यते। अत्र सच्चिदानन्दगतं सत्, चित्, आनन्दाख्यम् प्रतिशब्दम् पृथक् पृथक् व्याख्यायते। तत्र तावत् सद्रूपत्वम् व्याख्यायते, केनाऽपि शक्तिविशेषेणाऽपि, अबाध्यमानत्वेन = अप्रतिहतत्वेन, कालत्रयेऽपि = त्रिकालेऽपि, एकरूपेण = अभिन्नेन स्वरूपेण, विद्यमानत्वम् = वर्तमानत्वम् उच्यते कथ्यते। चिद्रूपत्वम् नाम—किं तावत् चिद्रूपत्वम्—साधनान्तरनिरपेक्षतया = कारणान्तरापेक्षाराहित्येन, स्वयम् = आत्मनैव, प्रकाशमानः = द्योतमानः सन्, स्वस्मिन् = स्वकीये, आरोपिताः सर्वपदार्थाः = अखिलाभिधेयवस्तूनि, तेषाम् अवभासकवस्तुत्वम् = प्रकाशकपदार्थत्वम्, परमात्मतत्त्वमित्यर्थः, चिद्रूपत्वम् = ज्ञानस्वरूपत्वम्, इत्युच्यते = इति कथ्यते। आनन्दस्वरूपं नाम—किं तावत् आनन्दस्वरूपमिति कथ्यते—परमप्रेमास्पदत्वम् = अत्यधिकस्नेहास्पदम्, नित्यम् = शाश्वतम्, निरतिशयि-

त्वम् = अद्वितीयत्वम्, आनन्दत्वम् = हर्षत्वम्, इत्युच्यते = कथ्यते । नित्यम् = शाश्वतम्, विज्ञानम् = विशिष्टज्ञानम्, आनन्दम् = हर्षम्, ब्रह्म = परमात्मा, रातिः ददाति, दातुः = दानकर्तुः, परायणम् = विरतम्, इति श्रुतेः । एवं = इत्थम्, नित्यम् = शाश्वतम्, शुद्धम् = शुद्धस्वरूपम्, बुद्धम् = ज्ञातारम्, मुक्तस्वभावम् । 'ब्रह्माहमस्मि, अहम् ब्रह्म अस्मि, इति, संशयः = संदेहः, असंभावना = अशक्यता, विपरीतभावना = प्रतिकूलभावना, तासां राहित्येन = हीनत्वेन, यः=पुरुषविशेषः, जानाति = वेत्ति सः = पुरुषः, जीवन्मुक्त आत्मज्ञानेन संसारबन्धात् मुक्तः भवतीति शेषः ॥ ४१ ॥

अनुवाद—अब आत्मा का सच्चिदानन्द स्वरूपत्व कहते हैं । विश्व की किसी भी शक्ति से अबाधित तीनों काल में एक रूप से विद्यमान शक्ति को 'सत्' कहते है । 'चित्' शक्ति अन्य साधनों की अपेक्षा के विना स्वयं प्रकाशमान होते हुए अपने में ही सभी पदार्थों को आरोपित करनेवाली तेजस्वी पदार्थ है । आनन्दस्वरूप उसे कहते हैं जो परमप्रेमास्पद है, नित्य है, निरतिशय प्रसन्नता का प्रतीक है । (यही सत् + चित् + आनन्द = सच्चिदानन्द का स्वरूप है । 'ब्रह्म अर्थात्—परमात्मा नित्य है, विशिष्ट प्रज्ञाशाली है, आनन्द स्वरूप है, प्रसन्नता प्रदान करने में निरत है । ऐसा वेद में कहा गया है । ऐसा नित्य शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव है । 'मैं ब्रह्म हूँ ?' ऐसा संदेह, असंभावना या विपरीत विचारों से रहित होकर जो उस ब्रह्म को जानता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

निर्वचन—प्र + काश् + शानच् + मुक्=प्रकाशमानः । अव + भास + ण्वुल् + अवभासकः । आ + नन्द + घञ् = आनन्दः । वि + ज्ञा + ल्युट्=विज्ञानम् ।

इति बिहारप्रान्तीय 'बेगूसराय' मण्डलान्तर्गत 'अकबरपुर' ग्रामवासि-दैवज्ञ-प्रवरश्रीमत्कीर्तिनाथमिश्रात्मज-श्रीजगदीशचन्द्रमिश्रविरचित-सविमलविमर्शोपेतसंस्कृतहिन्दीव्याख्यया समाप्ता ।

—⟶∘⟵—

श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचितः

आत्मबोधः

'विमला' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः
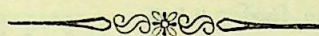
तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् ।
मुमुक्षूणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते ॥ १ ॥

निर्यद् रसप्लवनपिच्छिलवर्त्मवाच-
श्छिन्दन्ति येऽपि कृतिनो निभृतं प्रयातुम् ।
तेषां शिरस्यखिलविघ्नमहातपस्य
बाधां विधूनयतु काचन मेघमाला ॥

अन्वयः—अयम्, आत्मबोधः, शान्तानाम्, वीतरागिणाम्, तपोभिः, क्षीणपापानाम्, मुमुक्षूणाम्, अपेक्षः, विधीयते ॥ १ ॥

व्याख्या—अयम् = एषः, आत्मनः बोधः आत्मबोधः = आत्माज्ञानोत्पादकः प्रबन्धः, शान्तानाम् = शान्ततपस्विनाम्, वीतरागिणाम् = इच्छारहितानाम्, वासनाशून्यानाम् वा, तपोभिः = कठिनसाधनाभिः, क्षीणपापानाम् = विगतकल्मषाणाम् । मुमुक्षूणाम् = मोक्तुमिच्छुकानाम्, अपेक्षः = अवबोधनीयः, विधीयते = क्रियते, मयेति शेषः ॥ १ ॥

अनुवाद—जो शान्त चित्त हैं, वीतराग हैं तथा जिन्होंने अपनी तपस्याओं से अपने पापों को विनष्ट कर दिया है तथा इस संसार-बन्धन से मुक्ति की इच्छा रखते हैं—ऐसे लोगों के अवबोधार्थ ही मैंने इस 'आत्मबोध' नामक अर्थात् आत्म-ज्ञान-जनक प्रबन्ध-विशेष की रचना की है ॥ १ ॥

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति ॥ २ ॥

अन्वयः—अन्यसाधनेभ्यः, बोधः, साक्षात्, मोक्षैकसाधनम्, हि, वह्निवत्, पाकस्य, ज्ञानम्, विना, मोक्षः, न, सिध्यति ॥ २ ॥

व्याख्या—अन्येभ्यः=इतरेभ्यः, साधनेभ्यः=उपकरणेभ्यः, बोधः = प्रत्यक्षज्ञानम्, हि = यतः, साक्षात् = प्रत्यक्षः, मोक्षस्य = मुक्तेः, एकम्, अद्वितीयम्, साधनम् = कारणम्, किञ्च, वह्निवत् = अग्निम् विना यथा पाकस्य = भोज्यपदार्थस्य, सिद्धिः न भवति तथैव ज्ञानम् विना = प्रज्ञायाः अभावे, मोक्षः = संसारबन्धनात् मुक्तिः, न सिद्धयति = न जायते ॥ २ ॥

अनुवाद—अन्य उपकरणों की अपेक्षा आत्मबोध प्रत्यक्ष रूपेण संसार से मुक्ति का एकमात्र साधन है, क्योंकि जैसे आग के विना पाक की सिद्धि नहीं होती उसी प्रकार 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिलती ॥ २ ॥

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्त्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसङ्घवत् ॥ ३ ॥

अन्वयः—कर्म, अविरोधितया, अविद्याम्, न, विनिवर्त्तयेत् , विद्या, एव, तेजः, तिमिरसङ्घवत् , अविद्याम्, निहन्ति ॥ ३ ॥

व्याख्या—कर्म=कृत्यम् यागादिकम्, अविरोधितया=विरोधाभावात्, कर्मविद्ययोर्विरोधो नास्ति, प्रत्युत कर्म अविद्यामेव पोषयति । अतः कर्माचरणेन मोक्षो न । अविद्याम् = अज्ञानम्, न = नहि, विनिवर्त्तयेत् = निवारयेत् , विद्या=ज्ञानम्, एव = इत्यवधारणे, तेजः = प्रकाशः, तिमिरसङ्घवत् = यथा तिमिरचयं हन्ति तथैव विद्या अविद्याम् = अज्ञानं, निहन्ति = विनाशं करोति ॥ ३ ॥

अनुवाद—कर्म अप्रतिबन्धकत्व के कारण अविद्या को रोक नहीं पाता है, जिस प्रकार प्रकाश अन्धकार के समूह को नष्ट करता है, उसी प्रकार विद्या ही अविद्या को विनष्ट करती है ॥ ३ ॥

परिच्छिन्न इवाज्ञानात् तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ४ ॥

अन्वयः—अज्ञानात् , परिच्छिन्नः, इव, आत्मा, तन्नाशे, सति, केवलः मेघापाये, अंशुमानिव, हि, स्वयं, प्रकाशते ॥ ४ ॥

व्याख्या—अज्ञानात् = अविद्यायाः कारणात् , परिच्छिन्नः = आच्छादितः देहादिपरिमितः, इव = यथा, आत्मा = जीवः, तस्य = अज्ञानस्य, नाशे सति = ध्वंसे सति, केवलः = निरवच्छिन्नः, मेघापाये = मेहति वर्षति जलमिति मेघस्तस्यापाये = अपसारे सति अंशुमानिव = सूर्यं इव, हि = इति निश्चये, स्वयम् = स्वतः = प्रकाशते राजते, अविद्यायाः विनाशे सति केवलम् आत्मैव दृश्यते, नान्यत् किमपि ॥

अनुवाद—बादल से घिरा हुआ सूर्य बादल के हटते ही जैसे स्वयं प्रकाशित होता है । ठीक उसी प्रकार अज्ञान से आवृत यह आत्मा अज्ञान के हटते ही स्वयं प्रकाशित होती है ॥ ४ ॥

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासाद्विनिर्मलम् ।
कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—ज्ञानम्, अज्ञानकलुषम्, जीवम्, ज्ञानाभ्यासात् , विनिर्मलम्, कृत्वा, स्वयं, जलम्, कतकरेणुवत् , नश्येत् ॥ ५ ॥

व्याख्या—ज्ञानम् = विद्या, अज्ञानेन = अविद्यया, कलुषम्=आविलम्, जीवम्= आत्मानम्, ज्ञानस्य अभ्यासः ज्ञानाभ्यासस्तस्मात् ज्ञानाभ्यासात् = विद्यानुशीलनात् , विनिर्मलम् = विशेषरूपेण निर्गतमलम् करोतीति विनिर्मलम्—स्वच्छम्,

कृत्वा = विधाय, स्वयम् = स्वतः, कतकस्य रेणुः कतकरेणुः तद्वत् = निर्मलीरज इव कतकरेणुः, कलुषितम् जलम् = सलिम्, निर्मलम् = स्वच्छम् कृत्वा स्वयमपि तेनैव सह नश्यति तथैव ज्ञानम् अज्ञानेनाच्छन्नमात्मानम् निर्मलम् कृत्वा तस्मिन् स्वयं विलीयते, इत्याशयः ॥ ५ ॥

अनुवाद—ज्ञान अज्ञान से आच्छन्न आत्मा को ज्ञानाभ्यास से पवित्र कर उसमें ठीक उसी तरह विलीन हो जाता है, जैसे गन्दे पानी को स्वच्छ बना कर निर्मली या फिटकरी उसी में समाहित हो जाता है ॥ ५ ॥

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसङ्कुलः ।
स्वप्नकाले सत्यवद् भाति प्रबोधेऽसत्यवद् भवेत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—रागद्वेषादिसङ्कुलः, संसारः, हि, स्वप्नतुल्यः, (अस्ति यथा) स्वप्नकाले, सत्यवत् , भाति, प्रबोधे, असत्यवत् , भवेत् ॥ ६ ॥

व्याख्या—रागद्वेषादिसङ्कुलः = स्नेहघृणादिभावाकीर्णः, संसारः = संसृतिः, हि = इति निश्चये, स्वप्नतुल्यः = स्वप्नसदृशः, अस्तीति शेषः, यथा स्वप्नकाले = स्वप्नावस्थायाम्, दृष्टविषयः सत्यवत् = यथार्थ इव, भाति = प्रतीयते, किञ्च, प्रबोधे = जागरणकाले, स एव स्वप्नदृष्टविषयः असत्यवत् = अयथार्थ इव, भवेत् = स्यादिति शेषः ॥ ६ ॥

अनुवाद—रागद्वेषादि से भरा यह संसार स्वप्न की तरह है, स्वप्नावस्था में जिस तरह स्वप्न में देखी बातें सत्य की तरह प्रतीत होती हैं किन्तु वहीं बातें जागने पर बिल्कुल अयथार्थ-सी हैं—उसी तरह यह संसार असत्य है ॥ ६ ॥

तावत् सत्यं जगद् भाति शुक्तिका रजतं यथा ।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—तावत् , यथा, शुक्तिका, रजतम्, जगत् , सत्यम्, भाति, यावत् , सर्वाधिष्ठानम्, अद्वयम्, ब्रह्म, न ज्ञायते ॥ ७ ॥

व्याख्या—तावत् = तावत्कालपर्यन्तम्, यथा = येन प्रकारेण, शुक्तिकायाम् = शुक्तौ रजतमितिभ्रमवत् तथा = तेन प्रकारेण, जगत् = संसृतिः, सत्यं = यथार्थ इव भाति = प्रतीयते, यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, सर्वाधिष्ठानम्—सर्वस्याऽपि, अधिष्ठानम् = आधारभूतम्, अद्वयम् = अद्वितीयम् ब्रह्म, न = नहि, ज्ञायते = प्रतीयते ॥ ७ ॥

अनुवाद—संसार तभी तक सीप में रजत की तरह सत्यवत् प्रतीत होता है, जब तक सभी के आधार स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म को नहीं जानता है ॥ ७ ॥

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः ।
व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥ ८ ॥

अन्वयः—सच्चिदात्मनि, नित्ये, अनुस्यूते, विष्णौ, विविधाः, सर्वाः, व्यक्तयः, हाटके, कटकादिवत् , प्रकल्पिताः ॥ ८ ॥

व्याख्या—सच्चिदात्मनि = नित्यज्ञानस्वरूपे, नित्ये = शाश्वते, अनुस्यूते = अन्तर्यामिनि, विष्णौ = परमेश्वरे, विविधाः = विभिन्नाः, सर्वाः = अखिलाः, व्यक्तयः = प्रपञ्चः, हाटके=कनके, कटकादिवत् = कटककुण्डलादि यथा, प्रकल्पिताः= निर्मिताः, तद्यथाऽस्मिन् संसारे सकलानि वस्तूनि विविधापदार्थाश्च काल्पनिका एव यथार्थतः आत्मन एव यथा कटककुण्डलादयोऽलङ्काराः कल्पनामात्राः यथार्थतः हाटकान्येव तद्वदिति भावः ॥ ८ ॥

अनुवाद—इस संसार में जितने भिन्न पदार्थ परिलक्षित हैं, वे सभी काल्पनिक है, नित्यज्ञान स्वरूप एकमात्र परमात्मा ही ठीक उसी प्रकार सत्य हैं जैसे काल्पनिक कटक कुण्डलादि काल्पनिक आभूषणों के लिये, सोना यथार्थ है ॥ ८ ॥

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः ।
तद्भेदाद्भिन्नवद् भाति तन्नाशादेकवद् भवेत् ॥ ९ ॥

अन्वयः—हृषीकेशः, विभुः, आकाशः, यथा, नाना, उपाधिगतः, तद्भेदात्, भिन्नवत्, भाति, तन्नाशात्, एकवत्, भवेत् ॥ ९ ॥

व्याख्या—हृषीकाणाम् = इन्द्रियाणाम्, ईशः अधिपतिः हृषीकेशः, विभुः = परमात्मा, आकाशः = अन्तरिक्षम्, यथा = येन प्रकारेण, नाना = अनेकविधेषु, उपाधिषु = पदार्थेषु, गतः = व्यतीतः । अयम् भावः येन प्रकारेणाकाशः—घटाकाश मठाकाशादिभेदेन विविधतां गतः तनैव प्रकारेण ईश्वरोऽपीति । तस्य उपाधेः, भेदात् = वैचित्र्यात्, भिन्नवत् = भिन्न इव, भाति = प्रतीयते, तस्य = उपाधेः, नाशात् = विध्वंसात्, एकवत्—एक एवेति, भवेत् = स्यात् । यथा घटादीनाम् नाशे तत्तदुपाधिराकाश आकाश एव तथैवेश्वरः तत्तदुपाधीनां नाशात् स एवाद्वितीय इति भावः ॥ ९ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार उपाधिभेद के कारण आकाशभेद की प्रतीति घटाकाश, मठाकाश, पटाकाशादि के रूप में होती है और उपाधि के नष्ट होते ही यह भेद मिट जाता है आकाश केवल एकमात्र आकाश रह जाता हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठाता वह परम परमात्मा उपाधिगत भेद के कारण ही भिन्नवत् प्रतीत होता है । उपाधि नष्ट होते ही वह अकेला एवं अद्वितीय है ॥ ९ ॥

नानोपाधिवशादेवं जातिनामाश्रयादयः ।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥ १० ॥

अन्वयः—तोये, रसवर्णादिभेदवत्, जातिनामाश्रयादयः, एवम्, नाना, उपाधिवशात्, आत्मनि, आरोपिताः ॥ १० ॥

व्याख्या—तोये = सलिले, रसवर्णादीनाम् = स्वादरूपादीनाम्, भेदवत् = वैलक्षण्यम् इव, जातिनामाश्रयादयः = जन्माभिधानाधिष्ठानादयः, एवम् = इत्थम् नाना = विविधाः, उपाधिवशात् = विशेषणवशात्, आत्मनि = जीवे, आरोपिताः = प्रकल्पिताः । यथा सलिलस्य मधुराम्ललवणत्वादिकम्, वर्णाश्चाश्रयसंगवशात्

जायते, तथैव जीवस्य अर्थात् आत्मनः व्यक्तिविशेषसम्पर्केणोत्पत्त्यभिधानाश्रयाणाम् भेदात् विभेद इत्याशयः ॥ १० ॥

अनुवाद—जिस प्रकार पानी का स्वाद मीठा, खारा या नमकीन अथवा उसका रङ्ग जो साफ, नीला या गन्दला प्रतीत होता, वह उसके आश्रयभेद के कारण ही, उसी प्रकार आत्मा की, व्यक्तिविशेष की संगति के कारण जाति, नाम आदि के भेद प्रतीत होते हैं ॥

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसञ्चितम् ।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥ ११ ॥

अन्वयः—शरीरम्, पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवम्, कर्मसंचितम्, सुखदुःखानाम्, भोगायतनम्, उच्यते ॥ ११ ॥

व्याख्या—शरीरम् = देहम्, पञ्चीकृतेभ्यः = पञ्चीकरणम् यथा प्रथमसूक्ष्माः पञ्चतन्मात्राः सृष्टास्ततस्तन्मात्रायाः क्षितेरर्द्धम् अपां तेजसाम् मरुताम् व्योम्नाम् च सूक्ष्माणाम् अष्टमष्टमंशं समादाय आपः पञ्चीकृताः, तेजसश्चार्द्धम् अन्येषाञ्चाष्टममष्टममंशं समादाय तेजः पञ्चीकृतम् । मरुतोऽर्धम् अन्येषां चतुर्णाम् अष्टममंशमादाय मरुत् पञ्चीकृतः । व्योम्नश्चार्धमन्येषाम् चतुर्णाम् अष्टममंशं समादाय व्योम पञ्चीकृतम् । एतान्येव स्थूलानि महाभूतानि उच्यन्ते, एभिश्च सृष्टिरिति कर्मणा = शुभाशुभफलोत्पादककृत्येन, यावत् सञ्चितम् = संकलितम्, सुखदुःखानाम् = सुखानि च दुःखानि च, तेषां, भोगस्य = अनुभवस्य आयतनम् आस्पदमित्युच्यते ॥

अनुवाद—यह शरीर पञ्चीकृत महाभूतों से समुत्पन्न है। शुभाशुभ कर्मों के द्वारा संचित भोगों का यह शरीर आधार कहा गया है ॥ ११ ॥

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् ।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—पञ्चभिः, प्राणैः, मनसा, बुद्ध्या, दशभिः, इन्द्रियैः समन्वितम् अपञ्चीकृतैः, भूतैः, उत्थम्, सूक्ष्माङ्गम्, भोगसाधनम् ॥ १२ ॥

व्याख्या—पञ्चभिः = पञ्चसंख्याभिः, प्राणैः = प्राणापानोदानसमानव्यानैः, मनसा = चित्तेन, बुद्ध्या = ज्ञानेन, दशभिः = दशसंख्यभिः, इन्द्रियैः = चक्षुःकर्णनासिकाजिह्वात्वग्वाक्पाणिपादपायूपस्थैः, समन्वितम् = सम्मिलितम् अपञ्चीकृतैः = पूर्वोक्तपञ्चीकरणरहितैः, भूतैः = तन्मात्राभिः, उत्थम् = समुत्पन्नम्, सूक्ष्माङ्गम् = सूक्ष्मदेहम्, भोगस्य = प्राप्तव्यस्य, साधनम् = हेतुभूतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

अनुवाद—प्राणापानादि पांच प्राण, मन, बुद्धि एवं दश इन्द्रियों से समन्वित अपञ्चीकृत भूतों से समुत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर भोग के साधन हैं ॥ १२ ॥

अनाद्यविद्या निर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते ।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानमवधारयेत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—अनाद्यविद्या, कारणोपाधिः, निर्वाच्या, उच्यते, उपाधित्रितयात्, अन्यम्, आत्मानम्, अवधारयेत् ॥ १३ ॥

व्याख्या—अनादिः=आदिरहिता अविद्या=अज्ञानं मूलप्रकृतिरित्यर्थः, उपाधिः= अवस्था, सत्त्वरजस्तमोरूपा इत्यर्थः, वतरणोपाधिः = हेतुभूता निर्वाच्या = निर्वक्तुम् शक्यते उच्यते कथ्यते, कारणोपाधित्रितयात् = सत्त्वरजस्तमोमयात् गुणत्रयविशेषात्, अन्यम् = भिन्नम् आत्मानम् = परमात्मानम्, अवधारयेत् = निश्चिनुयादिति ॥ १३ ॥

अनुवाद—आदि हीन मूलप्रकृति के सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण रूप उपाधि को कारण कहा जा सकता है। इन उपाधित्रय से भिन्न आत्मा को समझना चाहिए ॥ १३ ॥

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः ।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा ॥ १४ ॥

अन्वयः—नीलवस्त्रादियोगेन, स्फटिकः, यथा, शुद्धात्मा, पञ्चकोशादियोगेन, तन्मयः, इव, स्थितः ॥ १४ ॥

व्याख्या—नीलवस्त्रादिभिः = नीलवर्णपरिधानादिभिः, योगेन = संयोगेन, स्फटिकः=काचमणिः, यथा = येन प्रकारेण, शुद्धात्मा = ईश्वरः, पञ्चकोशादियोगेन = पञ्चविधाः 'कोशाः अन्नमयानन्दमयादिरूपाः तेषां योगेन संयोगेन, तन्मय इव यथा स्थितः=अवस्थितः ॥ १४ ॥

अनुवाद—नीले रंग के वस्त्रों के संयोग से स्फटिक की तरह यह परमेश्वररूप शुद्धात्मा आनन्दमयादि पञ्चकोषों के संयोग से तन्मय की तरह लगता है ॥ १४ ॥

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्यावधानतः ।
आत्मानमान्तरं शुद्धं विविच्यात् तण्डुलं यथा ॥ १५ ॥

अन्वय—वपुषः, तुषादिभिः, कोशैः, युक्तम्, आन्तरम्, शुद्धम, आत्मानम्, युक्त्या, अवधानतः, तण्डुलम्, यथा, विविच्यात ॥ १५ ॥

व्याख्या—वपुषः = देहस्य, तुषादिभिः = धान्यत्वगादिभिः, कोशैः = पूर्वोक्तैः अन्नमयादिभिः, युक्तम् = समन्वितम्, आन्तरम् = अन्तर्यामिणम्। शुद्धम् = शुद्धस्वरूपमात्मानम्, युक्त्या = योगेन, अवधानतः = एकाग्रतः, तण्डुलम् = धान्यविशेषम्, यथा = येन प्रकारेण, विविच्यात् = पृथक्कृत्य अवधारयेत्, येन प्रकारेण धान्यम् तुषादिभिर्युक्तम्, बहिरप्रकाशम् पश्चात्तुषाद्यपनयनेन निर्मलम् दृश्यते, तेनैव प्रकारेण शुद्धात्मा बाह्यकोशाद्यपनयनेन विशुद्धः सन् प्रकाशते ॥ १५ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार आवरणस्वरूप भूसे के हट जाने पर भीतर से चावल प्रकाशित होने लगता है, उसी प्रकार देह, पंचकोषादि आवरण के हट जाने पर अन्तर्यामी विशुद्ध आत्मा प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते ।
बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ १६ ॥

अन्वयः—सदा, सर्वगतः, अपि, आत्मा, सर्वत्र, न, अवभासते, स्वच्छेषु, प्रतिबिम्बवत्, बुद्धौ, एव, अवभासेत ॥ १६ ॥

व्याख्या—सदा=सर्वदा, सर्वगतः=सर्वव्यापकः, अपि = चेत्, स्वच्छेषु=निर्मलेषु, प्रतिबिम्बवत् = प्रतिमूर्त्तिरिव, बुद्धौ = ज्ञाने, एव, अवभासेत = प्रकाशेत ॥ १६ ॥

अनुवाद—सदा सर्वव्यापक रहने पर भी यह आत्मा सर्वत्र प्रकाशित नहीं होता है। स्वच्छ वस्तुओं पर प्रतिबिंब की तरह केवल बुद्धि में ही प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणम् ।
तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्यादात्मानं राजवत् सदा ॥ १७ ॥

अन्वयः—देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यः, विलक्षणम्, तद्वृत्तिसाक्षिणम्, आत्मानम्, राजवत्, सदा, विद्यात् ॥ १७ ॥

व्याख्या—देहात्=शरीरात्, इन्द्रियेभ्यः=चक्षुःश्रोत्रपाणिपाय्वादिभ्यः, मनोबुद्धिभ्याम्=अन्तःकरणज्ञानाभ्याम्, प्रकृतिभ्यः विलक्षणम्=विभिन्नम्, तद्वृत्तिसाक्षिणम्=तासु शरीरादिषु प्रकृतिषु वृत्तिरवस्थानम् तस्याः साक्षी तत्तद्देहादिप्रकृतीनाम् कार्यदर्शीत्यर्थः, तम् आत्मानम्=जीवम्, परमपुरुषं, वा, राजवत्=नृपम् इव, सदा=सर्वदा, विद्यात्=जानीयात् । यथा नृपतिः स्वयं किञ्चिदपि कार्यम् न करोति सेवकादिकृतं कार्यञ्च पश्यति तथैव आत्मा स्वयं न किञ्चिदपि करोति, किन्तु प्रकृतेः कार्यस्य द्रष्टेति भावः ॥ १७ ॥

अनुवाद—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और प्रकृति से भिन्न तथा उस प्रकृति के कार्यों के साक्षि स्वरूप राजा की तरह इस आत्मा को जानना चाहिए। (जैसे राजा स्वयं कुछ नहीं करता किन्तु, सेवकादि द्वारा किये गये कृत्यों का साक्षी रहता है, उसी प्रकार, आत्मा स्वयं तो कुछ करता नहीं किन्तु, प्रकृति के सम्पूर्ण कार्यों का साक्षी है)॥ १७ ॥

व्यावृत्तेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीवाविवेकिनाम् ।
दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥ १८ ॥

अन्वयः—यथा, अभ्रेषु, धावत्सु, शशी, धावन्, इव, दृश्यते, तथा, आत्मा, व्यावृत्तेषु, इन्द्रियेषु, व्यापारी, इव, अविवेकिनाम्, (अवभासते) ॥ १८ ॥

व्याख्या—यथा=येन प्रकारेण, अभ्रेषु=मेघेषु, धावत्सु=चलत्सु, शशी=चन्द्रः, धावन्=चलन्, इव=यथा, दृश्यते=प्रतीयते, तथा=तथैव, आत्मा,=जीवः, व्यावृत्तेषु=स्वभिन्नेषु, स्वकीयकार्यं कुर्वत्सु इन्द्रियादिषु, व्यापारीव=तत्तत्कार्यकारी इव, अविवेकिनाम्=विवेकशून्यपुरुषाणाम्, अवभासते इति शेषः ॥ १८ ॥

अनुवाद—जैसे चलते हुए बादल के कारण बादलों में चन्द्रमा दौड़ते हुए से प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियादि के स्वकीय कार्यों से अविवेकी पुरुषों को आत्मा ही कार्यकारी की तरह प्रतीत होती है ॥ १८ ॥

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः ।
स्वकीयार्थेषु वर्त्तन्ते सूर्यालोकं यथा जनाः ॥ १९ ॥

अन्वयः—देहेन्द्रियमनोधियः, जनाः, सूर्यालोकम्, यथा, आत्मचैतन्यम्, आश्रित्य, स्वकीयार्थेषु, वर्त्तन्ते ॥ १९ ॥

व्याख्या—देहेन्द्रियमनोधियः=दैहिकानि इन्द्रियाणि, मनः धीश्च, ताः जनाः=

लोकाः, सूर्यालोकं यथा = आदित्यप्रकाशमिव, आत्मचैतन्यम् = परमेश्वरम्, आश्रित्य=अनुसृत्य, स्वकीयार्थेषु = निजकार्येषु, वर्त्तन्ते ॥ १९ ॥

अनुवाद—जनसामान्य जैसे सूर्यप्रकाश को लेकर अपने २ कामों में लगे रहते हैं, उसी तरह देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आत्मचैतन्य को आश्रित कर अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं ॥ १९ ॥

देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले सच्चिदात्मनि ।
अध्यास्यन्तेऽविवेकेन गगने नीलतादिवत् ॥ २० ॥

अन्वयः—अविवेकेन, गगने, नीलतादिवत, अमले, सच्चिदात्मनि, देहेन्द्रियगुणान् , कर्माणि, अध्यास्यन्ते ॥ २० ॥

व्याख्या—अविवेकेन = विवेकाभावेन, गगने = आकाशे, नीलवर्णत्वादिकम् इव, अमले = निर्मले, सच्चिदात्मनि = परमात्मनि, देहेन्द्रियगुणान् = शरीरेन्द्रिय-गुणारूपाणि, कर्माणि = शुभाशुभाकृत्यानि, अध्यास्यन्ते = आरोप्यन्ते ॥ २० ॥

अनुवाद—अपनी विवेकहीनता के कारण जनसामान्य आकाश को नीलवर्ण का जिस प्रकार मानता है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल परमात्मा में देह और इन्द्रिय के कर्मों को अध्यासित-आरोपित करते हैं ॥ २० ॥

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्त्तृत्वादीनि चात्मनि ।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादिर्यथाम्भसः ॥ २१ ॥

अन्वयः—अम्भसः, चलनादिः, अम्बुगते, चन्द्रे, यथा, मानसोपाधेः, कर्तृत्वा-दीनि, अज्ञानात् , आत्मनि, कल्प्यन्ते ॥ २१ ॥

व्याख्या—अम्भसः = सलिलस्य, चलनादिः = कम्पनादिः, अम्बुगते = जलप्रति-बिम्बिते, चन्द्रे = सोमे, यथा = येन प्रकारेण, मानसोपाधेः = मनोरूपेन्द्रियस्य, कर्तृत्वादीनि = विधातृत्वादीनि अज्ञानाद् = अविवेकात् , आत्मनि=जीवे, कल्प्यन्ते= आरोप्यन्ते यथा = जले प्रतिबिम्बितजलचन्द्रो यथार्थतः न चलति तथापि जलस्य कम्पनादिवशात् तस्य चाञ्चल्यम् प्रतीयते, तथा मनसः कार्यकारित्वेपि अज्ञानात् परमात्मनि कार्यकारित्वमवबुध्यते ।

अनुवाद—जिस प्रकार जलस्तर पर प्रतिबिम्बित चन्द्र स्थिर रहते हुए भी जल-कम्पन के कारण चंचल सा प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार लोगों को अज्ञानतावश मन के कर्त्तृत्वादि में परमात्मा के कर्तृत्वादि का बोध होता है ॥ २१ ॥

रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां प्रवर्त्तते ।
सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद् बुद्धेस्तु नात्मनः ॥ २२ ॥

अन्वयः—बुद्धौ, सत्याम्, रागः, इच्छा, सुखम्, दुःखादि, प्रवर्त्तते, सुषुप्तौ, तन्नाशे, (तत्) न, अस्ति, तस्मात् , बुद्धेस्तु, न, आत्मनः ॥ २२ ॥

व्याख्या—बुद्धौ = ज्ञाने, सत्याम् = विद्यमानायाम्, रागः=विषयानुरागः इच्छा= कामः, सुखम् = आनन्दः, दुःखादि = कष्टादि, च, प्रवर्त्तते=कार्यं करोति, सुषुप्तौ = सुखेनाहम् अस्वाप्सम्, न किञ्चित् अवेदिषम्, इत्येवंरूपा तृप्तिर्यस्याः निद्रायाः

अवसाने भवति सा प्रगाढनिद्रा, तस्याम् अर्थात् तस्याः = बुद्धेः, नाशे = विलीनत्वे, तत् = रागेच्छासुखदुःखादि, न = नहि, अस्ति, भवति, तस्मात्, अतएव, बुद्धेस्तु = बुद्धेरेव, रागादिः न तु आत्मनः = जीवस्येति भावः ॥ २२ ॥

अनुवाद—राग, इच्छा, सुख अथवा दुःखादि का अवबोध बुद्धि में ही होता है, प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में जब इस बुद्धि का विनाश हो जाता है तब रागादि भावों का भी विनाश हो जाता है। अतः अनुभूतिजन्य ये सारे काम बुद्धि के हैं न कि आत्मा के ॥ २२ ॥

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्यथोष्णता ।
स्वभावः सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलतात्मनः ॥ २३ ॥

अन्वयः—अर्कस्य, प्रकाशः, तोयस्य, शैत्यम्, अग्नेः, उष्णता, यथा, स्वभावः, (तथा) आत्मनः, सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलता, (स्वभावः) ॥ २३ ॥

व्याख्या—अर्कस्य = सूर्यस्य, प्रकाशः = तेजः, तोयस्य = जलस्य, शैत्यम् = शीतलत्वम्, अग्नेः = वह्नेः, उष्णता = तापः, यथा = येन प्रकारेण स्वभावः, तथैव-आत्मनः = जीवस्य, सच्चिदानन्दः = परमानन्दः, नित्यम् शाश्वतम्, निर्मलता = अमलता, स्वभावः = प्रकृतिः, अस्तीति शेष इति भावः ॥ २३ ॥

अनुवाद—जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश, जल की शीतलता एवं आग की उष्णता स्वाभाविक है, उसी प्रकार आत्मा का स्वाभाविक परमानन्दता, नित्यता एवं निर्मलता है ॥ २३ ॥

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम् ।
संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्त्तते ॥ २४ ॥

अन्वयः—आत्मनः, सच्चिदंशः, बुद्धेः, वृत्तिश्च, इति द्वयम्, अविवेकेन, वा, संयोज्य, जानामि, इति, प्रवर्त्तते ॥ २४ ॥

व्याख्या—आत्मनः = जीवस्य, सच्चिदंशः = सच्चिदानन्दस्वरूपम्, बुद्धेः = प्रज्ञायाः, वृत्तिः = व्यवहारः, इति इत्थम्, द्वयम् = द्विविधम्—अविवेकेन = अज्ञानेन, संयोज्य = संमिश्रणम् कृत्वा, जानामि = अवगच्छामि, इति = इत्थम् प्रवर्त्तते वदतीति भावः। ज्ञानम् बुद्धेरेव धर्मः नतु आत्मन इति भावः ॥ २४ ॥

अनुवाद—ज्ञान बुद्धि का धर्म है न कि आत्मा का, वह तो सच्चिदानन्दस्वरूप है। अज्ञानतावश इन दोनों को मिला कर लोग 'जानता हूँ' ऐसा कहते हैं ॥ २४ ॥

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बोधो न जात्विति ।
जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा ज्ञाता द्रष्टेति मुह्यति ॥ २५ ॥

अन्वयः—आत्मनः, विक्रिया, न, अस्ति, इति, बुद्धेः, बोधः, जातु, न, जीवः, सर्वम्, अलम्, ज्ञात्वा, ज्ञाता, द्रष्टा, इति मुह्यति ॥ २५ ॥

व्याख्या—आत्मनः = जीवस्य, विक्रिया = विकारः सुखदुःखादिः, न = नहि अस्ति=भवति, बुद्धेः = प्रज्ञायाः, बोधः=ज्ञानम्, जातु=कदाचित्, न भवतीति शेषः, जीवः = आत्मा, सर्वम् = अखिलम् विषयम्, अलम् = पर्याप्तम्-सम्यग् रूपेण,

ज्ञात्वाऽपि=जानन्नपि, ज्ञाता=बोद्धा, द्रष्टा=साक्षी, इति=इत्थम् मुह्यति=मुग्धो भवतीति भावः ॥ २५ ॥

अनुवाद—आत्मा को सुख, दुःखादि विकार नहीं होते हैं, बुद्धि का बोध कदाचित् नहीं होता । तात्पर्य यह कि बुद्धि आत्मा को विकारी मानता है । आत्मा सभी विषयों को अच्छी तरह जान कर भी 'मैं ज्ञाता एवं द्रष्टा हूँ' ऐसा मोह में पड़ता है ॥ २५ ॥

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवो ज्ञात्वा भयं वहेत् ।
नाहञ्जीवः परात्मेति ज्ञानश्चेन्निर्मलो भवेत् ॥ २६ ॥

अन्वयः—जीवः, रज्जुसर्पवत्, आत्मानम्, ज्ञात्वा, भयं, वहेत्, अहम्, जीवः, न, परात्मा, इति, ज्ञानम्, चेत्, निर्मलः, भवेत् ॥ २६ ॥

व्याख्या—जीवः=प्राणी, रज्ज्वाम्=तन्तौ, सर्पवत्=नागमिव, आत्मानम्=ब्रह्म, ज्ञात्वा=बुद्ध्वा, भयम्=आतङ्कम्, वहेत् धारयेत्, बिभीयात् । यथा रज्ज्वाम् सर्पोऽयम्—इति भ्रमात्मकबुद्धया जनः=बिभेति, तथैवात्मानम् भयहेतुत्वेन मन्यते इति भावः । अहम्=एष जनः, जीवः=ब्रह्मभिन्नः, न=नहि, परमात्मा=साक्षाद् ब्रह्म एव, इति, ज्ञानम्=अवगमः, बोधः, चेत्=तर्हि, निर्मलः=विशुद्धः निर्भय-इति यावत्, भवेत्=स्यात् ॥ २६ ॥

अनुवाद—जीव रज्जु में सर्प के मिथ्याज्ञान की तरह आत्मा को जानकर भयभीत होता है, फिर मैं जीव नहीं 'परमात्मा हूँ' इस बुद्धि से निर्भय हो जाता है ॥ २६ ॥

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादीनीन्द्रियाणि हि ।
दीपो घटादिवत् स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः—दीपः, घटादिवत् , एकः, आत्मा, बुद्धयादीनि, इन्द्रियाणि, अवभासयति, हि, किन्तु, जडैः, तैः, स्वात्मा, न, अवभास्यते ॥ २७ ॥

व्याख्या—दीपः=दीपकः, घटादिवत्=कुम्भादिमिव, एकः=अद्वितीयः आत्मा=ब्रह्म, बुद्धयादीनि=चक्षुःश्रोत्रादीनि, इन्द्रियाणि, अवभासयति=प्रकाशयति, हि=एव, आत्मराहित्ये तेषां कार्याक्षमत्वादिति भावः । किन्तु, जडैः=अचेतनैः, तैः=बुद्धयादिभिः, स्वात्मा=स्वनिष्ठः आत्मा, न=नहि, अवभास्यते=प्रकाशयितुम् शक्यते ॥ २७ ॥

अनुवाद—घटादि जैसे दीपक से प्रकाशित होता है उसी प्रकार एक आत्मा ही बुद्धयादि इन्द्रियों को प्रकाशित करता है । किन्तु अचेतनभूत ये इन्द्रियां स्वयं प्रकाशित होने में असमर्थ हैं और इनसे आत्मा प्रकाशित नहीं होता । अर्थात् आत्मा के बिना ये इन्द्रियाँ किसी भी कार्य में समर्थ नहीं हैं ॥ २७ ॥

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयात्मनः ।
न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मप्रकाशने ॥ २८ ॥

अन्वयः—यथा, दीपस्य, स्वात्मप्रकाशने, अन्यदीपस्य, न इच्छा तथा, आत्मनः, बोधरूपतया, स्वबोधे, न, अन्यबोधेच्छा ॥ २८ ॥

व्याख्या—यथा = येन प्रकारेण, दीपस्य=दीपकस्य, स्वात्मप्रकाशने=निजस्वरूप-प्रकटने, अन्यदीपस्य = स्वभिन्नदीपकस्य, 'इच्छा = अभिलाषः, न = नहि, अस्ति, तथा = तेन प्रकारेण, आत्मनः = जीवस्य, बोधरूपतया = ज्ञानस्वरूपत्वेन, स्वबोधे= स्वस्वरूपस्य प्रकाशने, अन्यस्य = इतरस्य, बोधस्य = ज्ञानस्य, इच्छा=अभिलाषः, न भवतीति भावः ॥ २८ ॥

अनुवाद—जैसे दीपक का स्वात्मप्रकाशन में अन्य दीप की इच्छा नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानस्वरूप होने से आत्मबोध में अन्य बोधकी अभिलाषा नहीं रहती २८

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेतीति वाक्यतः ।
विद्यादैक्यं महावाक्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ २९ ॥

अन्वयः—नेति, नेति, इति वाक्यतः, निखिलान् , उपाधीन् , निषिध्य, महावाक्यैः, जीवात्मपरमात्मनोः, ऐक्यम्, विद्यात् ॥ २९ ॥

व्याख्या—नेति = तन्न, नेति = तन्न, इति = इत्थम्, वाक्यतः = शब्दसमूहेन, निखिलान् = अखिलान् , उपाधीन् = आवरणभूतान् विषयान् , निषिध्य = निरस्य, महावाक्यैः = तत्त्वमसीति दुरूहार्थप्रतिपादकैर्वाक्यैः, जीवात्मपरमात्मनोः, ऐक्यम्= अभेदम्, य एव जीवात्मा स एव परमात्मा इत्येवं रूपम्, विद्यात् = बुध्येत् ॥२९॥

अनुवाद—'नेति नेति' इस वाक्य से सम्पूर्ण विषयों का निषेध कर 'सोहमस्मि तत्त्वमसि' इन वाक्यों द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा में एक रूपता जानना चाहिए ॥२९॥

आविद्यकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत् क्षरम् ।
एतद्विलक्षणं विद्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—आविद्यकम्, दृश्यम्, बुद्बुदवत् , क्षरम्, एतद्विलक्षणम्, अहम्, ब्रह्म, इति, निर्मलम्, विधात् ॥ ३० ॥

व्याख्या—आविद्यकम् = अविद्यानिबन्धनम्, दृश्यम्, देहादिः बुद्बुदवत् = जलस्फोटमिव, क्षरम् = विनश्वरम्, एतद्विलक्षणम् = दृश्यादिभिन्नम्, अहम् = जीवः, ब्रह्म = परमात्मा, इति = एवं, विद्यात् = जानीयात् ॥ ३० ॥

अनुवाद—अविद्या निबन्धित स्थूल शरीर जल बुदबुद की तरह क्षणिक है। इससे विलक्षण 'मैं ही निर्मल ब्रह्म हूँ' यह जानना चाहिए ॥ ३० ॥

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्यलयादयः ।
शब्दादिविषयैः सङ्गो निरिन्द्रियतया न च ॥ ३१ ॥

अन्वयः—मे, देहान्यत्वात् , जन्म, जरा, कार्श्यम्, लयादयः, न, (तथा) निरिन्द्रियतया, शब्दादिविषयैः, न च, सङ्गः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—मे = मम, देहान्यत्वात् = शरीरभिन्नत्वात्-आत्मनः, इति जन्म= उत्पत्तिः, जरा = वार्द्धकम्, कार्श्यञ्च = क्षीणता, लयादयः = ध्वंसादयः, न सन्तीति,

तथा निरिन्द्रियतया = इन्द्रियराहित्येन, शब्दादिभिः विषयैः = शब्दरूपरसगन्धस्पर्शैरित्यर्थः, नच सङ्गः = नापि संयोगः इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—मेरा देह से भिन्न होने के कारण जन्म, बुढ़ौती, कृशता या मृत्यु आदि नहीं है, (अर्थाद् उत्पत्ति स्थिति या विनष्टि देह से ही संबन्धित है आत्मा से नहीं) और इसी प्रकार इन्द्रियों से भिन्न शब्द रूप रसादि का संयोग भी नहीं है ॥ ३१ ॥

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादिश्रुतिशासनात् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अप्राणः, अमनाः, शुभ्रः, हि, इत्यादिश्रुतेः, शासनात्, मे, अमनस्त्वात्, दुःखरागद्वेषभयादयः न ॥ ३२ ॥

व्याख्या—अप्राणः = प्राणरहितः, अमनाः = मनोरूपेन्द्रियशून्यः, शुभ्रः = निर्मलः, हि = एव, आत्मेति भावः । इत्यादिश्रुतेः = वेदस्य, शासनात् = शिक्षणात्, मे = मम, अमनस्त्वात् = मनोरूपत्वाभावात्, दुःखरागद्वेषभयादयः = कष्टस्नेहघृणाऽऽतङ्कादयः, न = नहि ॥ ३२ ॥

अनुवाद—वेदादि की शिक्षा के अनुसार ये आत्मा प्राण से भिन्न है, मन से भिन्न है, अतः आत्मा को मन से पृथक् रहने के कारण दुःख, राग, द्वेष, या भय आदि नहीं होते ॥ ३२ ॥

निर्गुणो निष्क्रयो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—निर्गुणः, निष्क्रियः, नित्यः, निर्विकल्पः, निरञ्जनः, निर्विकारः, निराकारः, नित्यमुक्तः, निर्मलः, अस्मि (अहम्) ॥ ३३ ॥

व्याख्या—(अहम् = ब्रह्म) निर्गुणः = त्रिगुणातीतः, निष्क्रियः = व्यापाररहितः, नित्यः = अक्षयः, निर्विकल्पः = निर्लिप्तः, निरञ्जनः, निर्मलः, निर्विकारः = अविक्रियः, निराकारः = आकाररहितः, नित्यमुक्तः = सततबन्धनमुक्तः, निर्मलः = विशुद्धः, अस्मि अहम् आत्मेति यावत् ॥ ३३ ॥

अनुवाद—मैं (आत्मा) निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकल्प, निरञ्जन, निर्विकार, निराकार, सतत बन्धन मुक्त एवं निर्मल स्वभाव का हूँ ॥ ३३ ॥

अहमाकाशवत् सर्वबहिरन्तर्गतोऽच्युतः ।
सदा सर्वसमः शुद्धो निःसङ्गो निर्मलोऽचलः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—अहम्, आकाशवत्, सर्वेषाम्, बहिरन्तर्गतः, अच्युतः, सदा, सर्वसमः, शुद्धः, निःसङ्गः, निर्मलः, अचलः (अस्मि) ॥ ३४ ॥

व्याख्या—अहम् = आत्मा इति, आकाशवत् = अन्तरिक्षमिव, सर्वेषाम् = अखिलजगताम्, बहिरन्तर्गतः = बाह्याभ्यन्तरवर्त्ती, अच्युतः = अविनाशी, सदा = सर्वस्मिन् काले, सर्वेषाम् समः सर्वसमः = अपक्षपातीत्यर्थः, शुद्धः = केवलः, निःसङ्गः = निर्लेपः, निर्मलः = कालुष्यरहितः, अचलः = निरन्तरावस्थितः ॥ ३४ ॥

अनुवाद—मैं अर्थात् आत्मा-आकाश की तरह सम्पूर्ण संसार में भीतर से बाहर तक व्याप्त हूँ। अत एव मैं अविनाशी हूँ, सभी समय सबों के लिए समान रूप हूँ, शुद्ध हूँ, निर्लिप्त हूँ, कलुषहीन हूँ तथा अचल हूँ ॥ ३४ ॥

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत् परं ब्रह्माहमेव तत् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—**यत् , नित्यम्, शुद्धम्, विमुक्तम्, एकम्, अखण्डम्, आनन्दम्, अद्वयम्, सत्यम, ज्ञानम्, अनन्तम्, तत् , परम्, ब्रह्म, अहम्, एव (अस्मि) ॥ ३५ ॥**

व्याख्या—**यत् = वस्त्विति, नित्यम्=शाश्वतम्, शुद्धम्=शुद्धस्वरूपम्, विमुक्तम्= बन्धहीनम्, एकम्, अद्वितीयम्. अखण्डम् = निरन्तरम्, आनन्दम् = हर्षस्व रूपम्, अद्वयम्—नास्तिद्वयम् यस्याऽसौ अद्वयम् = अनुपमम्, सत्यम् = यथार्थम्, ज्ञानम्= प्रज्ञा, अनन्तम् = अपरिमितम्, यत् तत् = अहम्, परम् = महत् , ब्रह्म = परमात्मा, अहम = आत्मा, एव इति ॥ ३५ ॥**

अनुवाद—वह वस्तु जो नित्य है, शुद्धस्वरूप है, बन्धनमुक्त है, एक है, अखण्ड है, आनन्दस्वरूप है, अनूप है, सत्य है, ज्ञानस्वरूप है तथा निस्सीम है, वह परब्रह्म (आत्मा) मैं ही हूँ ॥ ३५ ॥

एवं तिरन्तरं कृत्वा ब्रह्मैवास्मीति वासना ।
हरत्यविद्याविक्षेपान् रोगानिव रसायनम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—**एवम्, निरन्तरम, कृत्वा, ब्रह्मेव, अस्मि, अहम्, इति वासना, रसायनम, रोगान् , इव, अविद्याविक्षेपान् , हरति ॥ ३६ ॥**

व्याख्या—**एवम् = इत्थम, निरन्तरम् = अनवरतम्, = कृत्वा विधाय, ब्रह्म = परमात्मा, एव, अस्मि = भवामि, अहम् = आत्मा, इति = इत्थम्, वासना=संस्कार-विशेषः, रसायनम् = औषधविशेषः, रोगानिव = व्याधीनिव, अविद्याविक्षेपान् = मोहविलसितानि, हरति = नाशयति ॥ ३६ ॥**

अनुवाद—इस प्रकार सतत ('मैं ही ब्रह्म हूँ') की वासना अविद्या रूपी विक्षेप ों क ठीक उसी प्रकार नष्ट कर देती है जैसे **रोगों को रसायन** (औषधि) नष्ट करता है ॥ ३६ ॥

विविक्तदेश आसीनो विरागी विजितेन्द्रियः ।
भावयेदेतमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—**विविक्तदेशे, आसीनः, विरागी, विजितेन्द्रियः, अनन्यधीः, तम्, अनन्तम्, एतम्, आत्मानम्, भावयेत् ॥ ३७ ॥**

व्याख्या—**विविक्तदेशे = विजनप्रदेशे, आसीनः = उपविष्टः, विरागी = विगत-स्पृहः, विजितेन्द्रियः = वशीकृतेन्द्रियः, अनन्यधीः = एकाग्रचित्तः सन् , तम् = पूर्वोक्तम्, अनन्तम् = अन्तहीनम्, एतम् आत्मानम् = ब्रह्म, भावयेत् = चिन्तयेत ॥ ३७ ॥**

अनुवाद—(अतः) एकान्त प्रदेश में बैठकर, विषयों से विरक्त होकर, जितेन्द्रिय बनकर एकाग्रचित्त होइस आत्मा का (मेरा) चिन्तन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः ।
भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥ ३८ ॥

अन्वयः—**सुधीः, धिया, आत्मन्येव, अखिलम्, दृश्यम्, प्रविलाप्य, निर्मलाकाशवत्, एकम्, आत्मानम्, सदा, भावयेत् ॥ ३८ ॥**

व्याख्या—**सुधीः = प्राज्ञः जनः, धिया = बुद्ध्या, आत्मन्येव = जीवे एव, अखिलम् = सर्वम्, दृश्यम् = वस्तु, प्रविलाप्य = अभ्यन्तरीकृत्य, निर्मलाकाशवत्—निर्मलम् = स्वच्छम् आकाशवत् = गगनमिव, एकम् = अद्वितीयम्, आत्मानम् = ब्रह्म, सदा भावयेत् = चिन्तयेत् ॥ ३८ ॥**

अनुवाद—विद्वान् व्यक्ति अपनी बुद्धि से आत्मा में ही सम्पूर्ण विश्व की वस्तु को अन्तर्हित कर निर्मल आकाश की तरह ब्रह्म का सर्वदा चिन्तन करें ॥ ३८ ॥

रूपवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् ।
परिपूर्ण-चिदानन्द-स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ३९ ॥

अन्वयः—**परमार्थवित्, रूपवर्णादिकम्, सर्वम्, विहाय, परिपूर्णचिदानन्द-स्वरूपेण, अवतिष्ठते ॥ ३९ ॥**

व्याख्या—**परमार्थवित् = परमं विशिष्टकोटिकम् अर्थम् ब्रह्म वेत्तीति परमार्थवित्, रूपम् = स्वरूपम्, वर्णादिकम् = जात्यादिकम्, सर्वम् = निखिलम्, विहाय = परित्यज्य, परिपूर्णः = अखण्डः, यः चिदानन्दः = ज्ञानसुखम्, तत्स्वरूपेण = तदभिन्नत्वेन इति यावत्, अवतिष्ठते सोऽहमिति भावमवलम्बते इत्यर्थः ॥ ३९ ॥**

अनुवाद—परमार्थ को जाननेवाले रूप वर्णादि सर्वों को छोड़कर उस अखण्ड आनन्द स्वरूप ब्रह्म में अवस्थित हैं ॥ ३९ ॥

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परात्मनि न विद्यते ।
चिदानन्दैकरूपत्वाद् दीप्यते स्वयमेव हि ॥ ४० ॥

अन्वयः—**परात्मनि, ज्ञाता, ज्ञानम्, ज्ञेयम्, भेदः, न, विद्यते, स हि, चिदानन्दैकरूपत्वात्, स्वयमेव, दीप्यते ॥ ४० ॥**

व्याख्या—**परात्मनि = परब्रह्मणि, ज्ञाता = वेत्ता, ज्ञानम् = बोधः, ज्ञेयम् = वेद्यम्, तेषाम् भेदः = पार्थक्यम्, यावत् परमात्मनि न विद्यते। ज्ञाता ज्ञानम् ज्ञेयं चेति भावः। स हि चिदानन्दैकरूपत्वात् = ज्ञानानन्दस्वरूपत्वात्, स्वयमेव = आत्मनैव, दीप्यते = प्रकाशते ॥ ४० ॥**

अनुवाद—परमात्मा में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय का कोई भेद नहीं है। वह चिदानन्द स्वरूप है तथा अपनी ज्योति से आप प्रकाशित है ॥ ४० ॥

एवमात्माऽरणिध्यानमथने सततं कृते ।
उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—**एवम्, सततम्, आत्मा, रणिध्यानमथने, कृते, (सति) उदितावगतिर्ज्वाला, सर्वाज्ञानेन्धनम्, दहेत ॥ ४१ ॥**

व्याख्या—**एवम् = इत्थम्, सततम् = सर्वदा, आत्मा एव = ह्य एव, अरणिः = शमीदारु तस्य ध्यानम् = मननम्, एव मन्थनम् = घर्षणम्, तस्मिन् कृते सति = उदिता = उत्थिता, अवगतिः = अवबोध एव, ज्वाला = अग्निशिखा, सर्वम् = सकलम्, अज्ञानेन्धनम्—अज्ञानमेवेन्धनम् = अविद्याकाष्ठम्, दहेत् = भस्मी कुर्यात् ॥ ४१ ॥**

अनुवाद—इस प्रकार आत्मारूपी अरणि है और उसका अनवरत ध्यान ही मन्थन है। उससे उठी हुई अववाधरूपी ज्वाला में सम्पूर्ण अज्ञानरूपी इन्धन जल जाता है ॥ ४१ ॥

आरुणेनैव बोधेन पूर्वं सन्तमसे हृते ।
तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव ॥ ४२ ॥

अन्वयः—**आरुणेन, बोधेन, पूर्वम्, सन्तमसे, हृते, ततः, आत्मा, स्वयमेव, अंशुमानिव, आविर्भवेत् ॥ ४२ ॥**

व्याख्या—**आरुणेन = अरुणसम्बन्धिना, बोधेन = ज्ञानोदयेन पूर्वम्, प्राक्, सन्तमसे = गाढान्धकारे मोहे च, हृते = विनष्टे सति, ततः = तत्पश्चात्, आत्मा = ब्रह्म, स्वयमेव = स्वत एव, अंशुमानिव = सूर्यं इव, आविर्भवेत् = प्रकाशेत ॥४२॥**

अनुवाद—जिस प्रकार अरुणोदय से पूर्व का गाढ़ान्धकार मिट जाता है और सूर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानोदय होते ही मोहान्धकार मिट जाता है और सूर्य की तरह आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है ॥ ४२ ॥

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्यया ।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्ठाभरणं यथा ॥ ४३ ॥

अन्वयः—**आत्मा, तु, सततम्, प्राप्तः, अपि, अविद्यया, अप्राप्तवत्, तन्नाशे, स्वकण्ठाभरणम्, यथा, प्राप्तवत्, भाति ॥ ४३ ॥**

व्याख्या—**आत्मा = जीवः, तु = किन्तु, सततम् = सर्वदा, प्राप्तः = सन्निहितः, अपि = चेत्, अविद्यया = अज्ञानेन मोहेन वा, अप्राप्तवत् = असन्निहित इव प्रतीयते। तस्याः अविद्यायाः, नाशे = ध्वंसे सति, स्वस्य कण्ठाभरणम् = स्वकण्ठाभरणम् निजकण्ठहारः यथा = इव, प्राप्तवत् = सन्निहित इव, भाति = प्रतीयते ॥ ४३ ॥**

अनुवाद—आत्मा सदैव उपलब्ध है किन्तु अविद्या के कारण वह असन्निहित की तरह प्रतीत होती है। अविद्या के विनाश होते ही वह निजकण्ठगत हार की तरह वह प्रतीत होने लगती है ॥ ४३ ॥

स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता।
जीवस्य तात्त्विकं रूपं तस्मिन् दृष्टे निवर्त्तते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—स्थाणौ, पुरुषवत्, ब्रह्मणि, जीवता, भ्रान्त्या, कृता, तस्मिन् दृष्टे, जीवस्य, तात्त्विकम्, रूपम्, निवर्त्तते ॥ ४४ ॥

व्याख्या—स्थाणौ = पल्लवशाखाहीनतरौ, पुरुषवत् = मनुष्याकृतिरिव, अर्थात् अयम् पुरुषस्तिष्ठतीतिवत्, ब्रह्मणि=आत्मनि, जीवता = जीवस्वरूपता, भ्रान्त्या = भ्रमेण मोहन वा कृता—मोहान्धा एव जीवं वदन्ति। तस्मिन् = आत्मनि, दृष्टे = साक्षात्कृते सति, जीवस्य = आत्मनः, तात्त्विकम् = यथार्थम्, रूपम् = स्वरूपम्, निवर्तते = ब्रह्मणि जीवज्ञानम् दूरीभवतीति ॥ ४४ ॥

अनुवाद—स्थाणु में पुरुषाकृति की तरह ब्रह्म में जीव की भ्रान्ति होती है। आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान से ब्रह्म में जीवज्ञान का भ्रम दूर हो जाता है ॥ ४४ ॥

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमञ्जसा।
अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—तत्त्वस्वरूपानुभवात्, अञ्जसा, उत्पन्नम्, ज्ञानम्, अहम्, मम, इति, च, अज्ञानम्, दिग्भ्रमादिव, बाधते ॥ ४५ ॥

व्याख्या—तत्त्वस्वरूपस्य = तात्त्विकभावस्य, अनुभवात् = बोधात्, अञ्जसा= शीघ्रमेव, उत्पन्नम् = जातम्, ज्ञानंच = बोधः, अहम् = एष जनः, मम = मदीयम्, इति च = एवम्प्रकारम्, अज्ञानम् = मोहम्, दिग्भ्रमादिवत् = दिग्भ्रममिव, बाधते= निरस्यति ॥ ४५ ॥

अनुवाद—तात्त्विक भाव के बोध से शीघ्र ही उत्पन्न ज्ञान से 'मैं और मेरा' सम्बन्धी मोह दिग्भ्रम की तरह छूट जाता है ॥ ४५ ॥

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्मन्येवाखिलञ्जगत्।
एकं च सर्वमात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सम्यग्, विज्ञानवान्, योगी, ज्ञानचक्षुषा, स्वात्मन्येव, अखिलम्, सर्वं, जगत्, एकम्, आत्मानम्, ईक्षते ॥ ४६ ॥

व्याख्या—सम्यक् = तात्त्विकम् यत् विज्ञानम्=विशिष्टावबोधस्तद्वान्, योगी= चिन्तनशीलमहात्मा, ज्ञानचक्षुषा = बोधदृष्ट्या, स्वात्मन्येव = स्वस्वरूपे एव, अखिलम् = निखिलम्, सर्वं, जगत् = विश्वम्, एकम् = अद्वितीयम्, आत्मानम् = ब्रह्म, ईक्षते = पश्यति ॥ ४६ ॥

अनुवाद—तात्त्विक विज्ञानवान् योगी अपनी ज्ञानदृष्टि से अपने में ही सम्पूर्ण विश्व को अद्वितीय आत्मा के रूप में देखता है ॥ ४६ ॥

आत्मैवेदं जगत् सर्वमात्मनोऽन्यत् न किञ्चन।
मृदो यद्वत् घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—इदम्, सर्वम्, जगत्, आत्मा एव, आत्मतः, अन्यत् न, किञ्चन, घटादीनि, यद्वत्, मृदः, सर्वम्, स्वात्मानम्, ईक्षते ॥ ४७ ॥

व्याख्या—इदम् = एतत्, सर्वम् = सम्पूर्णम्, जगत् = विश्वम्, आत्मा = ब्रह्म, एव = इति निश्चयः, आत्मनः = परमात्मनः, अन्यत् = भिन्नम्, न = नहिं, किञ्चन = किमपि वस्तु, घटादीनि = कुम्भादीनि, यद्वत् = यथा मृदः = मृत्तिकायाः अन्यत् न तथा सर्वम् = सकलम्, स्वात्मानम् = स्वकीयमात्मानम्, ईक्षते = पश्यति ॥ ४७ ॥

अनुवाद—आत्मा ही यह सारा विश्व है, आत्मा से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। जैसे मिट्टी से भिन्न घड़ा नहीं होता—उसी प्रकार सबको आत्मस्वरूप देखता है ॥ ४७ ॥

जीवन्मुक्तस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् ।
सच्चिदानन्दरूपत्वं भजेद् भ्रमरकीटवत् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—जीवन्मुक्तः, तद्विद्वान्, पूर्वोपाधिगुणान्, भ्रमरकीटवत्, त्यजेत्, सच्चिदानन्दरूपत्वम्, भजेत् ॥ ४८ ॥

व्याख्या—जीवन्मुक्तः = जीवतः एव संसारबन्धनान्मुक्तिः = अविद्याबन्धनमुक्तिः इति यावत्, यस्य तथाभूतो जनः तद्विद्वान् = तत्त्ववित् सन्, पूर्वोपाधिगुणान् = अविद्याजनितान् भावानित्यर्थः, पूर्वभुक्तान् कमलादींश्च भ्रमरकीटवत् भृङ्ग इव त्यजेत्, भ्रमरकीटवत् भृङ्ग इव त्यजेत्, भ्रमरो यथा पूर्वम् भुक्तम् मधुमत् कमलादि परिणामे यदा मधुरहितम् पश्यति तदा तत् त्यजति यथा जनः पूर्वभुक्तम् संसारसुखम् अविद्याविगमात् यदा हेयमवबुध्यते तदा तत् त्यजेदिति भावः। तत्पश्चात् सच्चिदानन्दरूपत्वम् = ब्रह्मभावम्, भजेत् = लभते ॥ ४८ ॥

अनुवाद—तत्त्ववित् जीवन्मुक्त विद्वान् पूर्वभुक्त सांसारिक गुणों को भ्रमरकीट की तरह छोड़ देते हैं और सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् ।
योगी सर्वसमायुक्त आत्मारामो विराजते ॥ ४९ ॥

अन्वयः—रागद्वेषादिराक्षसान्, हत्वा, मोहार्णवम्, तीर्त्वा, योगी, सर्वसमायुक्तः आत्मारामः, विराजते ॥ ४९ ॥

व्याख्या—रागद्वेषादिराक्षसान्—रागः=विषयानुरागः, द्वेषः, ईर्ष्या, विरागो वा तौ आदी येषाम् तथाभूतान् राक्षसान् = निशिचरान्, हत्वा = निर्जित्य, मोहार्णवम् = अज्ञानसमुद्रम्, तीर्त्वा = पारम् कृत्वा, योगी = योगयुक्तपुरुषविशेषः, सर्वसमायुक्तः=सर्वस्मिन् सांसारिके भावे, सम् आयुक्तः अर्थात् सर्वसंसारभावत्यागीति, आत्मारामः = आत्मनि आरमते इति आत्मारामः = ब्रह्मनिष्ठः सन्, विराजते = शोभते ॥ ४९ ॥

अनुवाद—राग एवं द्वेष रूपी राक्षसों को जीत कर तथा मोहरूपी सागर को पार कर योगीजन संसार के सभी भावों को छोड़ कर अपनी आत्मा में विराजते हैं ॥ ४९ ॥

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वात्मसुखनिर्वृतः ।
घटस्थदीपवत् स्वच्छमन्तरेव प्रकाशते ॥ ५० ॥

अन्वयः—बाह्यम्, अनित्यम्, सुखम्, आसक्तिम्, हित्वा, आत्मनः, सुखम्, निर्वृतः, घटस्थदीपवत्, स्वच्छम्, अन्तरम्, एव, प्रकाशते ॥ ५० ॥

व्याख्या—बाह्यम् = बहिर्भवम्, अनित्यम् = नश्वरम्, यत् सुखम् = आनन्दः, तस्मिन् आसक्तिम् = अनुरागम्, हित्वा = परित्यज्य, आत्मनः = ब्रह्मज्ञानजनिते, सुखे = हर्षे, निर्वृतः = प्रसन्नः सन्, घटस्थः = कुम्भान्तरालेऽवस्थितः, दीपवत् = प्रदीप इव, स्वच्छम् = निर्मलम्, अन्तरेव = अभ्यन्तरे एव, प्रकाशते = दीप्यते ॥ ५० ॥

अनुवाद—बाहरी विनश्वर सांसारिक सुखों की आसक्ति को छोड़ कर ब्रह्म ज्ञान से उत्पन्न निर्मल आन्तरिक आनन्द में योगीजन उसी प्रकार प्रकाशित रहते हैं, जैसे घटस्थ दीप ॥ ५० ॥

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्निर्लिप्तो व्योमवन्मुनिः ।
सर्वविन्मूढवत् तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—मुनिः, उपाधिस्थोऽपि, तद्धर्मैः, व्योमवत्, निर्लिप्तः, सर्ववित्, मूढवत्, तिष्ठेत्, असक्तः, वायुवत्, चरेत् ॥ ५१ ॥

व्याख्या—मुनिः = ऋषिः, उपाधिस्थोऽपि = शरीरस्थितोऽपि, तद्धर्मैः = तस्य दैहिकैः भावैः, व्योमवत् = आकाश इव, निर्लिप्तः = निःसम्बन्धः, सर्ववित् = सर्वज्ञः, किन्तु, मूढवत् = जड इव, तिष्ठेत् तथा असक्तः = सङ्गवर्जितः सन्, वायुवत् = पवन इव, चरेत् = व्यवहरेत् ॥ ५१ ॥

अनुवाद—महात्माजन शरीरस्थ रहते हुए भी शरीर के धर्मों से आकाश की तरह निर्लिप्त रहते हैं, सब कुछ जानते हुए भी जड़वत् रहते हैं तथा आसक्तिरहित वायु की तरह व्यवहार करते हैं ॥ ५१ ॥

उपाधिविलयाद् विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः ।
जले जलं वियद् व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥ ५२ ॥

अन्वयः—मुनिः, जले, जलम्, व्योम्नि, वियत्, यथा, वा, तेजसि, तेजः, उपाधिविलयात्, निर्विशेषम्, विष्णौ, विशेत् ॥ ५२ ॥

व्याख्या—मुनिः = ऋषिः, जले = सलिले, जलम् = सलिलम्, व्योम्नि = आकाशे वियत् = आकाशम्, यथा = येन प्रकारेण, वा = अथवा, तेजसि = प्रकाशे, तेजः = दीप्तिः, यथा उपाधिविलयात् = सांसारिकभावविगमात्, निर्विशेषम्, विष्णौ = विश्वव्यापके आत्मनि, विशेत् = तिष्ठेत् ॥ ५२ ॥

अनुवाद—मुनिजन जल में जल की तरह, आकाश में आकाश की तरह, तेज में तेज की तरह, सांसारिक भाव के समाप्त होने पर निर्विशिष्ट विश्वव्यापक आत्मा में निवास करते हैं ॥ ५२ ॥

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम् ।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—यल्लाभात्, अपरः, लाभः, न, यत्सुखात्, अपरम्, सुखम्, न, यज्ज्ञानात्, अपरम्, ज्ञानम्, न, तद्, ब्रह्म, इति अवधारयेत् ॥ ५३ ॥

व्याख्या—यस्य, लाभात्=उपलब्धेः, अपरः=अन्यः, लाभः=प्राप्तिः, न—नहि, यस्य, सुखात्=ज्ञानजनितानन्दात्, अपरम्=अन्यत्, सुखम्=आनन्दः, न=नास्ति, यत्=यस्य, ज्ञानात्=बोधात्, अपरत=इतरत्, ज्ञानम्=बोधः, न=नास्ति, तद् ब्रह्म=परमात्मा, इति=इत्थम् अवधारयेत्=निश्चिनुयात् ॥ ५३ ॥

अनुवाद—जिसकी उपलब्धि के बाद कोई प्राप्य नहीं है, जिस सुख से बढ़ कर कोई दूसरा सुख नहीं है, जिस ज्ञान से बढ़ कर कोई दूसरा ज्ञान नहीं है—उसे ही ब्रह्म जानना चाहिए ॥ ५३ ॥

यद् दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः ।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—यत्, दृष्ट्वा, अपरम्, दृश्यम्, न, यत्, भूत्वा, पुनर्भवः, न, यत्, ज्ञात्वा, अपरम्, ज्ञेयम्, न, तद्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५४ ॥

व्याख्या—यत्=तत्त्वविशेषम्, दृष्ट्वा=अवलोक्य, अपरम्=अन्यत् किञ्चित्, दृश्यम्=दर्शनीयम्, न=नास्ति, यत्=वस्तु, भूत्वा=अवतीर्य, पुनर्भवः=पुनर्जन्म, न भवेत्, यत्=तत्त्वविशेषम्, ज्ञात्वा=बुद्ध्वा, अपरम्=अन्यत् किञ्चिदपि, ज्ञेयम्=बोध्यम्, न=न विद्यते, तत्=पदार्थविशेषम्, 'ब्रह्म' इति=इत्थम्, अवधारयेत्=निश्चिनुयात् ॥ ५४ ॥

अनुवाद—जिसे देखने के बाद अन्य कुछ देखने को नहीं रहता, जो होकर (जन्म लेकर) फिर जन्मग्रहण नहीं करना पड़ता, जिसे जानकर अन्य कुछ जानने लायक नहीं रहता उसे ब्रह्म जानना चाहिए ॥ ५५ ॥

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्णं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
अनन्तं नित्यमेकं यत् तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यत्, तिर्यक, ऊर्ध्वम्, अधः, पूर्णम्, सच्चिदानन्दम्, अद्वयम्, अनन्तम्, नित्यम्, एकम्, तद्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५५ ॥

व्याख्या—यत्=वस्तु, तिर्यक्=वक्रतः, उर्ध्वम्=उन्नतोन्मुखम्, अधः=निम्नप्रदेशः, अर्थात् सर्वतः, पूर्णम्=आपूरितम्, सच्चिदानन्दम्=नित्यज्ञानसुखस्वरूपम्, अद्वयम्=अद्वितीयम्, अनन्तम्=अन्तरहितम्, नित्यम्=शाश्वतम्, एकम्=केवलम्, तद् ब्रह्म, इति=इत्थम् अवधारयेत्=निश्चिनुयात् ॥ ५५ ॥

अनुवाद—जो ऊपर, नीचे, बायें-दायें सर्वत्र व्याप्त है, सदा सुखस्वरूप है, अद्वितीय है, अनन्त है, नित्य है और अकेला है—उसे ही ब्रह्म समझना चाहिए ॥ ५५ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽद्वयम् ।
अखण्डानन्दमेकं यत् तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—वेदान्तैः, अतद्व्यावृत्तिरूपेण, यद्, अद्वयम्, एकम्, अखण्डानन्दम्, लक्ष्यते, तद्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५६ ॥

व्याख्या—वेदान्तैः=उपनिषद्भिः, अतद्व्यावृत्तिरूपेण='तत्त्वमसि' इति वाक्यस्थम् यत् तत्पदम् तस्य व्यावृत्तेः=आवरणस्य अभावरूपेण, तत्पदार्थेन युष्मत्पदार्थस्याभेदरूपेणेति यावत्, यत् अद्वयम्=अद्वितीयम्, एकम्=केवलम्, अखण्डानन्दम्=पूर्णानन्दम्, यत् लक्ष्यते=प्रतीयते, तद् ब्रह्म=परमात्मा, इति=इत्थम्, अवधारयेत्=निश्चिनुयात् ॥ ५१ ॥

अनुवाद—अतद्व्यावृत्ति रूप से जो वेदान्तों के द्वारा अद्वितीय, एक एवं अखण्डानन्द के रूप में लक्षित हैं—उसे ही ब्रह्म जानना चाहिए ॥ ५६ ॥

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः ।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनो लवाः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अखण्डानन्दरूपस्य, तस्य, आनन्दलवम्, आश्रिताः, ब्रह्माद्याः, तारतम्येन, आनन्दिनः, लवाः, भवन्ति ॥ ५७ ॥

व्याख्या—अखण्डानन्दरूपस्य=पूर्णानन्दस्वरूपस्य, तस्य=आत्मनः आनन्दलवम्=हर्षबिन्दुम्, आश्रिताः=आस्थिताः, ब्रह्माद्याः=ब्रह्मप्रभृतिदेवगणाः, तारतम्येन=न्यूनाधिक्येन, आनन्दिनः=प्रसन्नाः, लवाः=खण्डाः, भवन्ति=जायन्ते ॥ ५७ ॥

अनुवाद—उस पूर्ण आनन्दस्वरूप परमात्मा के आनन्दकण से ब्रह्मा प्रभृति देवगण आनन्दित होते हैं ॥ ५७ ॥

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अखिलम्, वस्तु, तद्, युक्तम्, व्यवहारम्, तदन्वितः, तस्मात्, अखिले, क्षीरे, सर्पिः, इव, ब्रह्म, सर्वगतम् ॥ ५८ ॥

व्याख्या—अखिलम्=सम्पूर्णम्, वस्तु=पदार्थः, तद्=तेन पूर्णानन्देनात्मना, युक्तम्=सम्मिलितम्, व्यवहारम्=आचरणम्-क्रिया जगत् इति, तद्=तेन आत्मना, अन्वितः=अनुगतः। तस्मात्=अतः, अखिले=सम्पूर्णे क्षीरे=दुग्धे, सर्पिः=घृतम्, इव=यथा, ब्रह्म, सर्वगतम्=सर्वव्यापकम् ॥ ५८ ॥

अनुवाद—संसार की सम्पूर्ण वस्तु, समस्त क्रियाएं उसी परमात्मा से समन्वित है। अतः सम्पूर्ण दूध में व्याप्त घृत की तरह समस्त विश्व में वह ब्रह्म व्याप्त है ॥ ५८ ॥

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाढ्यं तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—तत्, अनणु, अस्थूलम्, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अजम्, अव्ययम्, अरूपगुणवर्णाढ्यम्, ब्रह्म इति, अवधारयेत् ॥ ५९ ॥

व्याख्या—तत्=पूर्वकथितम्, अनणु=सूक्ष्मतारहितम्, अस्थूलम्=स्थूलतारहितम्, अह्रस्वम्=अखर्वम्, अदीर्घम्=दीर्घत्वरहितम्, अजम्=जन्मरहितम्, अव्ययम्=अक्षयम्, अरूपगुणवर्णाढ्यम्=रूपगुणवर्णवर्जितम्, ब्रह्म इति=इत्थम्, अवधारयेत्=निश्चिनुयात् ॥ ५९ ॥

अनुवाद—वह परमात्मा जो न सूक्ष्म है, न स्थूल, न ह्रस्व है न दीर्घ है और जन्मरहित तथा अविनाशी है—रूप गुण और वर्ण से वर्जित है—उसे ही ब्रह्म जानना चाहिए ॥ ५९ ॥

यद्भासा भास्यतेऽर्कादिः भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६० ॥

अन्वयः—यद् भासा, अर्कादिः, भास्यते, भास्यैः, यत्, तु, न, भास्यते, येन, सर्वमिदम्, भाति, तद्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ६० ॥

व्याख्या—यस्य=यस्येश्वरस्य, भासा=कान्त्या, अर्कादिः=सूर्यादिः, भास्यते=दीप्यते, भास्यैः=मयूखैः, यत्=ब्रह्म, तु=किन्तु, न=नहि, भास्यते=दीप्यते, येन ब्रह्मणा, इदम्=एतत्, सर्वम्=अखिलम् जगत्, भाति=दीप्यति, तद् ब्रह्म, इति=इत्थम, अवधारयेत्=निश्चिनुयात् ॥ ६० ॥

अनुवाद—जिसकी कान्ति से सूर्यादि प्रकाशित हैं, जो किसी अन्य की दीप्ति से दीपित नहीं है प्रत्युत सारा विश्व जिसके तेज से दीप्तिमान है उसे ही ब्रह्म जानना चाहिए ॥ ६० ॥

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयेन्निखिलं जगत् ।
ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥ ६१ ॥

अन्वय—ब्रह्म, स्वयम्, निखिलम्, जगत्, अन्तः, बहिः, व्याप्य, भासयेत्, वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्, प्रकाशते ॥ ६१ ॥

व्याख्या—ब्रह्म=आत्मा, स्वयम्=स्वेनैव, निखिलम्=सम्पूर्णम्, जगत्=संसारम्, अन्तः=अभ्यन्तरतः, बहिः=बाह्यतः, व्याप्य=सर्वतोव्याप्य, भासयेत्=दीपयेत् तथा वह्नौ=अग्नौ, प्रतप्तः=संतप्तः, आयसपिण्डवत्=लोहखण्डः, इव, प्रकाशते=भासते ॥ ६१ ॥

अनुवाद—आग में तपाये लौह पिण्ड की तरह ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व के भीतर बाहर व्याप्त होकर प्रकाशित है ॥ ६१ ॥

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
ब्रह्मान्यद्भासते मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥ ६२ ॥

अन्वयः—ब्रह्म, जगद्विलक्षणम्, ब्रह्मणः, अन्यत्, न, किञ्चन, ब्रह्म, अन्यत्, यथा, मरुमरीचिका, मिथ्या, भासते ॥ ६२ ॥

व्याख्या—ब्रह्म = आत्मा, जगद्विलक्षणम् = संसारभिन्नम्, ब्रह्मणः = आत्मनः, अन्यत् = भिन्नम्, न = नहि, किञ्चित्=किमपि, ब्रह्मणः=आत्मनः, अन्यत्=भिन्नम्, यथा = येन प्रकारेण, मरुमरीचिका = मरुभूमौ मृगतृष्णिकेव, मिथ्या = अयथार्थम्, अलीकम् वा भासते = भाति ॥ ६२ ॥

अनुवाद—ब्रह्म संसार से विलक्षण है, ब्रह्म से भिन्न विश्व में अन्य कुछ भी नहीं है, ब्रह्म से भिन्न जो कुछ भी है वह मृगतृष्णा की तरह अयथार्थ है ॥ ६२ ॥

दृश्यते श्रूयते यद् यद् ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते ।
तत्त्वज्ञानाच्च तद् ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—यत् यत्, दृश्यते, श्रूयते, च, तद्, ब्रह्मणः, अन्यत्, न, विद्यते, तत्त्वज्ञानात्, तद्, अद्वयम्, सच्चिदानन्दम्, ब्रह्म एवेति शेषः ॥ ६३ ॥

व्याख्या—यत् यत् = यत्किञ्चिदपि, दृश्यते = अवलोक्यते, श्रूयते=अन्येन जनेन श्रूयते, तद् = वस्तु, ब्रह्मणः = परमात्मनः, अन्यत् = भिन्नम्, न = नास्ति, तत्त्वज्ञानात् = आत्मबोधात्, तद् = वस्तु, अद्वयम् = अद्वितीयम्, सच्चिदानन्दम् = ब्रह्म = आत्मा एवेति ॥ ६३ ॥

अनुवाद—इस संसार में जो कुछ हम देखते या सुनते हैं, वे वस्तुएँ परमात्मा से भिन्न नहीं हैं । आत्मज्ञान से ही हम उस सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म को जानते हैं ॥ ६३ ॥

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ज्ञानचक्षुः, सर्वगम्, सच्चिदात्मानम्, निरीक्षते, अज्ञानचक्षुः, अन्धवत्, भास्वन्तम्, भानुम्, न, ईक्षते ॥ ६४ ॥

व्याख्या—ज्ञानमेव चक्षुः ज्ञानचक्षुः=बुद्धिमान् जनः, सर्वगम्=सर्वम् गच्छतीति सर्वगम् = सर्वव्यापिनम्, सच्चिदात्मानम् = परमान्दस्वरूपम् आत्मानम्, निरीक्षते= पश्यति, अज्ञानचक्षुः = मूर्खजनः, अन्धवत्=दृष्टिहीन इव, भास्वन्तम्=प्रकाशन्तम् भानुम् = सूर्यम्, न = नहि, ईक्षते = पश्यति ॥ ६४ ॥

अनुवाद—ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमानन्द स्वरूप परमात्मा को देखते हैं । अज्ञानी जन अन्धे की तरह जैसे वह प्रकाशित सूर्य को नहीं देख पाता उसी प्रकार इस चैतन्य आत्मा को नहीं देख पाते हैं ॥ ६४ ॥

श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञानाग्निपरितापितः ।
जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद् द्योतते स्वयम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—श्रवणादिभिः, उद्दीप्तः, ज्ञानाग्निः, परितापितः, जीवः, सर्वमलात्, मुक्तः, स्वयम्, स्वर्णवत्, द्योतते ॥ ६५ ॥

व्याख्या—श्रवणादिभिः=श्रवणमनननिदिध्यासनैः, उद्दीप्तः=प्रज्वलितः, यत ज्ञानमेव अग्निः ज्ञानाग्निः तेन=बोधवह्निना परितापितः=प्रज्वालितः, जीवः= आत्मा, सर्वमलात्=सर्वस्मात पापात्, मुक्तः=विरहितः सन्, स्वयम्=स्वकीयम्, स्वर्णवत्=काञ्चनमिव, द्योतते=दीप्यते ॥ ६५ ॥

अनुवाद—श्रवण, मनन, निदिध्यासनों से प्रज्वलित तथा ज्ञानरूपी अग्नि से परितापित जीव स्वयं सोने की तरह प्रकाशित होता है ॥ ६५ ॥

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत् ।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते ॥ ६६ ॥

अन्वयः—हृदाकाशोदितम्, तमः, बोधभानुः, अपहृत्, हि, आत्मा, सर्वव्यापी, सर्वधारी, भाति, सर्वम्, प्रकाशते ॥ ६६ ॥

व्याख्या—हृदयाकाशोदितः—हृत्=हृदयमेव आकाशम्, तस्मिन् उदितः= उदयंगतः, तमः=अन्धकारः मोहमिति यावत्, बोधभानुः बोध—एव=ज्ञानमेव भानुः सूर्यः असौ बोधभानुः, अपहृत=विनाशयतीति भावः, हि=यतः, आत्मा= ब्रह्म एव, सर्वव्यापी=सर्वत्र व्यापकः सर्वधारी=अखिलं जगत् धारकः सन्, भाति=शोभते, च=पुनः सर्वम् निखिलम् जगत्, प्रकाशते=दीप्यते ॥ ६६ ॥

अनुवाद—हृदयरूपी आकाश में उदित आत्मज्ञानरूपी सूर्य मोहान्धकार को नष्ट कर देता है। क्योंकि आत्मा सर्वव्यापी है, सम्पूर्ण विश्व को धारण कर स्वयं शोभित है तथा सम्पूर्ण विश्व को अपने तेज से प्रकाशित करता है ॥ ६६ ॥

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगम्
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्कराचार्य-
विरचितमात्मबोधप्रकरणं सम्पूर्णम् ।

अन्वयः—यः, विनिष्क्रियः, दिग्देशकालादिः, अनपेक्षम्, सर्वगम्, शीतादिहृत्, नित्यसुखम्, निरञ्जनम्, स्वात्मतीर्थम्, भजते, सः, सर्ववित्, सर्वगतः, अमृतः च, भवेत् ॥ ६७ ॥

व्याख्या—यः = व्यक्तिविशेषः, विनिष्क्रियः = क्रियारहितः, सन् दिग्देश-कालादिः—दिग् = दिशा, कालाश्च समयाश्च आदयः = प्रभृतयः येषाम् तेषु, अनपेक्षम् = अपेक्षारहितम्, सर्वगम् = सर्वव्यापकम्, शीतादिहृत् = शीतोष्णादि-द्वन्द्वरहितम्, नित्यसुखम् = चिरानन्दम्, निरञ्जनम् = अकलुषम्, स्वात्मतीर्थम् = स्वस्य आत्मा एव तीर्थम् पुण्यक्षेत्रम्, तम् = आत्मानम्, भजते = आराधयति, सः = पुरुषविशेषः सर्ववित् = सर्वज्ञः, सर्वगतः = सर्वव्यापकः, अमृतः = मुक्तश्च, भवेत्, स्यात् ॥ ६७ ॥

अनुवाद—जो निष्क्रिय, दिग्देशकालादि से निरपेक्ष, सर्वव्यापक, शीतोष्णादि द्वन्द्व से रहित, नित्य सुखकर एवं निरञ्जन अपनी आत्मा रूपी तीर्थ की आराधना करता है, वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं जीवन्मुक्त होता है ॥ ६७ ॥

इति बिहारप्रान्तीय 'बेगूसराय' मण्डलान्तर्गत 'अकबरपुर' ग्रामवासि-श्रीजगदीशचन्द्रमिश्रविरचिता 'विमला' व्याख्या समाप्ता ।

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः ।

अपरोक्षानुभूतौ आत्मानात्मविवेकः

गीताप्रेसगोरखपुरतः प्रकाशिते श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचित-'अपरोक्षानुभूति'-नामकग्रन्थे 'आत्मानात्मविवेक'-शीर्षकाभ्यन्तरे अधोङ्किताः सप्तश्लोका दृश्यन्ते। अत्र मूलं मृग्यम्।

(१)

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥

(२)

आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो बाह्यो नियम्यकः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥

(३)

आत्मा ज्ञानमयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥

(४)

आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥

(५)

आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥

(६)

आत्मनस्तत्प्रकाशत्वं यत्पदार्थावभासनम्।
नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्यं यतो निशि॥

(७)

देहोऽहमित्ययं मूढो धृत्वा तिष्ठत्यहो जनः।
ममायमित्यपि ज्ञात्वा घटद्रष्टेव सर्वदा॥

विशेषविवरणम्

(नोट्स : Notes)

१. आत्मा

'ज्ञानाधिकरणमात्मा ।' आत्मैव कर्त्ताऽस्ति भोक्ता च । स हि व्यापको भूत्वा प्रतिशरीरं भिन्नः । ज्ञानसुखदुःखेच्छादिगुणास्तत्र समवायसम्बन्धेन सन्तिष्ठन्ते । नास्ति स ज्ञानसुखादिस्वरूपः । स नित्योऽविनाशी च । निधनानन्तरं स प्राक्तनजन्मनि कृतानि कर्माणि भोक्तुं परायणः सञ्जायते । नास्ति हि चैतन्यमात्मनोऽनौपाधिकगुणोऽपि तु औपाधिकगुण एव । अवस्थाविशेषे समुत्पद्यतेऽवश्यं स चैतन्याख्यौपाधिकगुणः । सुषुप्तौ मोक्षे चात्मा नानेन गुणेनानुस्रियते । इन्द्रिय-विषय-संयोगरूपोत्पादककारणभावात् । यावन्तो जीवास्तावन्त एवात्मानः । जीवात्मानो बद्धा भवन्ति मुक्ताश्च ।

'ज्ञानाधिकरणमात्मे'त्यत्र विचार्यते—समवायेन ज्ञानस्य लक्षणत्वलाभाय अधिकरणपदम् । अत्रात्मत्वजातिमत्त्वमप्यात्मनो लक्षणम् । सुखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतयात्मत्वजातिसिद्धिसंभवात् । सा जातिरीश्वरेऽपि स्वीक्रियते । शरीरादिकारणान्तरविरहेणैव ईश्वरे सुखाद्युत्पत्त्यापादनासंभवान्न नित्यस्येत्यादिनियमभङ्गप्रसङ्गः । न चैवं सति आकाशादावपि तादृशजातिस्वीकारापत्तिः । शरीरादिरूपकारणान्तरविरहेणैव तत्र सुखाद्युत्पत्त्यापादनासंभवात् सकलकारणसत्त्वघटितनित्यस्येत्यादिनियमभङ्गप्रसक्तिरिति वाच्यम् । तथापि गगनादावात्मेति व्यवहाराभावेन तादृशजात्यनभ्युपगमात् । ईश्वरे तु श्रौतव्यवहारानुरोधेन तादृशजातिस्वीकारस्यावश्यकत्वाच्च । वस्तुतस्तु आत्मपदशक्यतावच्छेदकतया आत्मत्वजातिसिद्धिर्बोध्या । असति बाधके शक्यतावच्छेदकतया जातिसिद्धेस्सर्वानुमतत्वात् । एतेन सुखादिसमवायिकारणतावच्छेदकतया अनतिप्रसक्तजीवत्वजातेरेव साधनौचित्यात् तादृशावच्छेदकत्वहेतुना ईश्वरसाधारणात्मत्वसाधनं कुसृष्टिसम्पादकत्वेन अनुचितमिति शङ्का निरस्ता । यत्तु आत्मनि प्रमाणाभावात् तल्लक्षणाभिधानमयुक्तमिति तन्न । जीवानां प्रत्येकं अहं सुखीत्यादिप्रत्यक्षसिद्धत्वात् 'सर्व एव आत्मानस्समर्पिता' इति श्रुतिसिद्धत्वाच्च । एवमीश्वरस्यापि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः निदध्यासितव्यः' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । तस्मादात्मसामान्यस्य प्रमाणसिद्धत्वेन नोक्तदोषावकाश इति आत्मविषयका विचारा मीमांसायाः प्रायेण त एव ये सन्ति न्यायवैशेषिकादिदर्शनानाम् ।

आत्मज्ञानमधिकृत्य मीमांसकपण्डितानां विचारेषु प्रायेण न साम्यम् । कुमारिलभट्टप्रभृतीनां मतमिदं यदात्मसम्बन्धिज्ञानं न सर्वथैव भवति । यदात्मनि विचार्यते तदात्मज्ञानं सञ्जायते 'यदहमस्मि' एवंविधं ज्ञानम् 'आत्मवित्ति'रिति कथ्यते । आत्मवित्तेर्विषयीभूतः पदार्थः आत्मेति प्रोच्यते ।

न्यायवैशेषिकमतेन आत्मा ईदृशः पदार्थोऽस्ति यत्र बुद्धिः, ज्ञानम् , सुखं, दुःखं, रागः, द्वेषः, इच्छा, कृतिः, प्रयत्नश्च वर्त्तन्ते। न सन्तीमे गुणाः जडजगति। प्रतिशरीरमस्ति भिन्न-भिन्न आत्मा। तद्गतानुभवानां सर्वथैव पार्थक्यात्। आत्मा विभुरविनाशी नित्यश्चास्ति। अस्ति च जीवात्माल्पज्ञः। अत्र दर्शनान्तरे वैमत्यं दृश्यते। चार्वाकदर्शन चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मेति मन्यते; बौद्धदर्शनं मानसिकानुभवानां विभिन्नप्रवृत्तीनाञ्च संघातात् भिन्नो न कश्चिदात्मेति ब्रवीति। न स ज्ञाता न ज्ञेयः। न च अहमेव। विशिष्टाद्वैतमतेनात्मा न केवलं चैतन्यमस्ति च ज्ञाता। अतः सः अहम् इति वक्तुं शक्यः।

न न्यायवैशेषिकमतेन शरीरम् , इन्द्रियाणि वा, मनोविज्ञानप्रवाहो वा आत्मा। तन्मतेन तु शुद्धं चैतन्यं नाम न किमपि वस्त्वेतादृशं यत्र स्यात् केनापि ज्ञात्रा केनाऽपि च ज्ञेयेन सार्धं सम्बद्धम्। चैतन्यं हि आश्रयद्रव्यापेक्षि। तस्मान्नास्त्यात्मा शुद्धं चैतन्यम्। आत्मास्त्येकं द्रव्यम्। तस्य च द्रव्यस्यास्ति गुणश्चैतन्यम्। नास्यात्मा ज्ञानम् अपि तु सोऽस्ति ज्ञाता। अस्ति सः अहङ्काराश्रयः किञ्च भोक्ता। यद्यपि ज्ञानं वा चैतन्यमात्मनो गुणत्वेन वर्त्तते परं न तौ गुणावात्मनः स्वरूपलक्षणत्वेन मतौ स्तः। आत्मनि चैतन्यस्य सञ्चारस्तदैव सञ्जायते यदा तस्य मनसा सह, मनस इन्द्रियैः सह इन्द्रियाणां बाह्यवस्तुभिश्च सह भवति संयोगः। एवंविधसंयोगाभावे नात्मनि चैतन्यस्योदयः सम्भवः।

आचार्यशङ्करस्याद्वैतवेदान्तदर्शनं ब्रह्मसंज्ञिकामेव सत्तामेकां सत्यां मन्यमानं सकलमपि जगत्प्रपञ्चं हि असत्यं प्रतिपादयति। तत् आत्मप्रत्ययस्य स्वयं सिद्धतामुपपादयद् वक्ति यज्जगदनुभूत्यामवतिष्ठते। विषयस्य प्रतीतिस्तु तावदेव भवति यावद् ज्ञातृरूप आत्मोपलभ्यते। आत्मलाभाभावे विषयस्य ज्ञानन्तु न मनागपि भवति। तस्मादिदमेव ज्ञातं जायते यत् जगदसत्यमात्मैव सत्यः। सर्वेऽपि प्राणिनः स्वसत्तायां विश्वसन्ति। नेदृक् कोऽपि जीवो य आत्मसत्तायां संशयीत। 'नास्म्यहम्' इति को विश्वसिति? 'नास्म्यहम्' इत्यत्र वक्ता कं प्रति 'अहम्' इति प्रयुनक्ति यं प्रति स 'अहम्' इति वदति स एव पदार्थः 'आत्मा' इति प्रोच्यते। अत एव आचार्यशंकरः स्वभाष्ये प्राह—

'सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मत्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्।'

आत्माऽस्ति स्वतः सिद्धः पदार्थः। न तत्सिद्ध्यर्थं प्रमाणमपेक्ष्यते। स ज्ञानं ज्ञाता चास्ति। न वस्तुतो ज्ञाता ज्ञानात् पृथक्। ज्ञातृज्ञानयोर्मध्ये न विद्यते भिन्नता। एकमेव ज्ञानं कर्तृत्वेन कर्मत्वेन च संयुतं भूत्वा भिन्नमिव प्रतिभासते। वस्तुतः तदभिन्नमेकमेव। 'आत्मा आत्मानं जानाती'त्यत्र य आत्मा कर्त्ता स एव कर्माप्यस्तीति। न कर्त्ता कर्मणो भिन्नो न च कर्मैव कर्त्तुर्भिन्नम्। वस्त्वेकमेव वर्त्तते। अवस्थाविशेषे तत् क्वापि 'कर्त्ता, क्वापि च कर्म' इति व्यपदिश्यते। तेन च स्पष्टं भवति यदात्मा ज्ञानात् पृथक् न। ज्ञानमेव 'आत्मा' इत्युच्यते।

आत्मनः वैशिष्ट्यं बोधयितुमाचार्यशङ्कर आह—दृष्टिर्विविधा भवति। नेत्र-

दृष्टिरात्मदृष्टिश्च। अतः श्रुतिरात्मदृष्टिं 'द्रष्टृ' इति किं वा आत्मानं 'द्रष्टा' इति गायति। अतः आत्मनो ज्ञानस्वरूपतायां न संशयावकाशः।

जीवो जगच्चेत्येतौ द्वौ पदार्थौ स्थूलदृष्ट्यैव दृश्येते। सूक्ष्मदृष्ट्या चेद् विमृश्यते तदा 'आत्मा' इत्येष एक एव पदार्थः। तस्यैव सत्ताऽस्ति। न कस्य च नान्यस्य। जगत्सत्ता तु व्यावहारिकी। जगतो व्यावहारिकतां प्रदर्शयन् आचार्यशङ्कर आह—

'आत्माऽस्ति इति स्वरूपो नित्यश्च। विषयाकारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारावभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन—व्याप्ता उत्पद्यन्ते।'

नामरूपाभ्यां विक्रियमाणाः पदार्थाः स्वाभ्यन्तरभागविशिष्टकारणशक्त्या सह परिवर्त्तन्ते। न कदापि विकृतयः आत्मस्वरूपं परित्यज्य सन्तिष्ठन्ते। न त्रिकालेऽपि किमपि वस्तु हि आत्मनः पृथग् भूत्वा सन्तिष्ठते। तस्मात् एका अद्वैतसत्तैव सर्वत्र संलक्ष्यते। विषयिविषययोः पार्थक्यं न पारमार्थिकं व्यवहारमूलकमेवैकान्ततः। सा हि आत्मसत्ता सर्वमप्यभिव्याप्य वर्त्तते। सैवैका नामरूपदेशकालाद्युपाधितः भिन्नभिन्नेव भूत्वावभासते। अत एव आत्मानात्मविवेके—

दृश्यं सर्वमनात्मा स्याद्दृगेवात्मा विवेकिनः।
आत्मानात्मविवेकोऽयं कथितो ग्रन्थकोटिभिः॥

एवं कठोपनिषदाह—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

×   ×   ×

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

२. शरीरपरिग्रहः

शरीरमधिकृत्य आचार्यशङ्कर आह—"आत्मनः किं निमित्तं दुःखम्? शरीरपरिग्रहनिमित्तम्।" अत्र विचार्यते—जीवस्य सन्ति त्रीणि शरीराणि—१ स्थूलशरीरम्, २—सूक्ष्मशरीरम् ३—कारणशरीरम्। स्थूलशरीरं पञ्चभूतकृतमस्ति। सूक्ष्मशरीरं प्राणमनोबुद्धीन्द्रियात्मकं वर्त्तते। कारणशरीरं हि अविद्यानिर्मितावरणमस्ति। जाग्रदवस्थायां जीवो बाह्यविषयान् इन्द्रियैर्जानाति, स्वप्ने मनसा सूक्ष्मवृत्तिभिश्च वेत्ति, सुषुप्त्यामविद्यायाः सूक्ष्मवृत्तिभिरावृतोऽसौ भवति आनन्दैकरसः। शुद्ध आत्मा नास्त्येतदुक्तावस्थागतः, सः ताभ्यः परः। अतस्तुरीयचैतन्यत्वेनोच्यते सः। सोऽस्ति निरुपाधिर्निर्विशेष एकरसः। गुणक्रियारहितश्च। एष आत्मा एव यदा मलिनसत्त्वोपाधियुक्तो भवति जीवः इति कथ्यते। परं शरीरमस्य कारणशरीरं भवति, सुषुप्त्यवस्थां भजमानोऽसौ आनन्दमयकोषे स्थितो भवति। अयमेवात्मा तदा 'तैजस' इत्येतां संज्ञां भजते, यदा स्वप्नावस्थानुभविता विज्ञानमनःप्राणमयकोषाच्छन्नो भवन् सूक्ष्मशरीरभाग्भवति। किञ्चायमेवात्मा तदा

'विश्व' इति प्रोच्यते यदा स्थूलशरीरवान् अन्नमयकोषावृतो जाग्रदवस्थागतो भवति। एक एव आत्मा अवस्थाभेदेन तां तां संज्ञां भजते।

३. कर्म

शारीरिकक्रिया 'कर्म' इत्युच्यते गुण इव कर्मापि द्रव्यमाश्रयति। परमिदं द्रव्यगुणाभ्यां भिन्नम्। द्रव्यं गुणं कर्म च श्रयति। गुणो द्रव्यस्य निष्क्रियंरूपमस्ति कर्म तु सक्रियं रूपम्। गुणः स्वस्याधारभूतपदार्थस्य निष्क्रियो धर्मोऽस्ति स तत्रैव स्थितो भवति। कर्म तु गतिशीलो व्यापारः। तद्यथा तर्कसंग्रहे—'उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि।' तत्पदार्थं स्थानान्तरं प्रापयति अतस्तत् पदार्थं संयुनक्ति वियुनक्ति च। न तस्य स्वकीयो हि कोऽपि गुणः। स तु पूर्वकथित-उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात् पञ्चविधः। पृथिव्यप्तेजोवायुमनःसु कर्मणो गतिः प्राप्यते न त्वाकाशदिक्कालात्मसु। आकाशादीनां सर्वव्यापित्वात्।

तेन हि निष्कामभावेन क्रियमाणानि कर्माणि चित्तं पुनन्ति। तस्मात् धर्मं हि चित्तशुद्धिविधायकनिष्कामकर्माणि प्रसूते। न वस्तुतो निष्कामकर्मभ्यो व्यतिरिक्तो धर्मः। अत एव महर्षिकणादः प्राह—'यत्कर्मणो निःश्रेयसलाभोऽभ्युदयश्च भवति तदेव 'धर्म' इति ज्ञेयम्—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' निष्कामकर्माचरणं तत्त्वज्ञानं जनयति तत्त्वज्ञानात् मोक्ष उपलभ्यते। अतः आचार्यशङ्कर आह—'शरीरपरिग्रहः केन भवति? कर्मणा'।

४. दुःखम्

दुःखस्य सद्भावं सर्वेऽपि दार्शनिका अङ्गीकुर्वन्ति, परं तत्कारणविषये न तेष्वैकमत्यं दृश्यते। दुःखकारणावगमनस्य प्रयत्नं आचार्यशङ्करः प्रतीत्य समुत्पादं सहकृत्य चकार। तस्य विचारात् शरीरपरिग्रहात् दुःखं जायते। न किमपि वस्तु कारणविहीनमस्ति। न कारणमन्तरेण दुःखस्योत्पत्तिः सम्भवा। शरीरमस्ति दुःखबहुलम्। जन्मजरामरणादिकानि हि दुःखानि कथ्यन्ते। जरामरणादिकस्यानुभूतिः शरीरपरिग्रहात भवति। तेन आयातमिदं यच्छरीरपरिग्रह एव दुःखस्य कारणम्। शरीरपरिग्रहः कर्मणा भवति। कर्मप्रवृत्तेर्हेतुरस्ति सांसारिकविषयेषु रागः। अत्रापि कारणमस्ति—शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगस्य वासना। वासनां किंवा तृष्णां जनयति अभिमानः। इन्द्रियैर्यथा सुखानुभूतिर्भवति तथैव तृष्णा जीवति परमनुभूतिरिन्द्रियाणां विषयैः सह सम्भोगमिच्छति, अतस्तदर्थमनुभूतिकृते स्पर्शोऽपेक्ष्यते। स्पर्शो न ज्ञानेन्द्रियाणि विना भवितुमर्हति, अतः स्पर्शः षडायतनानि अपेक्षते। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनश्च षडायतनमिति कथ्यते। गर्भस्थं शरीरमिति मनश्चान्तरेण षडायतनस्य स्थितिर्नास्ति। गर्भस्थं भ्रूणशरीरं मनश्च नामरूपत्वेन मतम्। चेत् गर्भावस्थायां चैतन्यं वा विज्ञानं न भवेत् तदा नामरूपयोर्वृद्धिर्न भवितुं शक्नोति। परं गर्भावस्थायां विज्ञानं तदैव सम्भाव्यं यदा प्राक्तनजन्मनः संस्काराः स्युः नाकस्माद् विज्ञानं सम्भवति। गतजन्मनोऽन्तिमावस्था मानवीयपूर्ववर्ति-

सकलकर्मणां प्रभावमारोपयति। कर्मभिः संस्काराः उत्पद्यन्ते, संस्कारेभ्यो विज्ञानं सम्भवति। संस्काराणां च कारणमस्ति अविद्या। चेच्छरीरस्य नश्वरताया दुःखमयतायाश्च सम्यगवगमनं कृतं स्यात् तदा तादृशेषु कर्मसु प्रवृत्तिरेव न संभवा वा यादृशानि कर्माणि शरीरं ग्राहयन्ति। तस्मात् सिद्धमिदम् दुःखस्य मूलकारणं शरीरपरिग्रह एव।

५. ज्ञानम्

ज्ञायते ब्रह्मानेनेति 'ज्ञानं' वेदान्तवाक्यम्। निरुक्तकारणतावच्छेदकतया ज्ञानपदशक्यतावच्छेदकतया वा सिद्धज्ञानत्वजातिमत्त्वमिति ज्ञानलक्षणम्। तस्य सिद्धार्थस्यापि स्वतः प्रामाण्यं वाचस्पतिमिश्रेणोपपादितम्, तथा च तद्ग्रन्थः— 'ननु विध्यसंस्पर्शिनो वेदस्यान्यस्य न प्रामाण्यं दृष्टमिति कथं वेदान्तानां तदस्पृशां तद् भविष्यतीत्यत आह—न चानुमानगम्यमिति। अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्, तच्च स्वतः इत्युपपादितम्। यद्यपि चैषामीदृग्बोधजनकत्वं कार्यार्थापत्तिसमधिगम्यम्, तथापि तद्बोधोपजनने मानान्तरं नापेक्षते'।

न्यायवैशेषिकदर्शने विद्याऽविद्याभेदेन ज्ञानं द्विविधं मतम्। तत्र च प्रत्येकं चतुर्विधम्। अविद्यायाश्चत्वारो भेदा इमे—संशयः, विपर्ययः, अनध्यवसायः, स्वप्नश्च। विद्यापि प्रत्यक्षानुमानस्मृत्यार्षभेदेन चतुर्विधा। प्रत्यक्षानुमानविषयकविचारास्तु वैशेषिकशास्त्रिणां त एव ये सन्ति न्यायशास्त्रिणां, परं वैशेषिकपण्डिताः उपमानं शब्दञ्च न प्रमाणत्वेन स्वीकुर्वन्ति ते ह्येतयोरन्तर्भावमनुमान एव कुर्वन्ति। स्मृतिः प्रसिद्धैव। ऋषीणामिन्द्रियातीतविषयकप्रतिभाजन्ययथार्थनिरूपणात्मकं ज्ञानम् आर्षमिति कथ्यते।

वेदान्तदर्शने ज्ञानात् पृथक् नात्मा। ज्ञानमेवात्मा इत्युच्यते। ज्ञानमपि नित्यानित्यभेदेन द्विविधं मतम्। अनित्यं ज्ञानमन्तःकरणावच्छिन्नं वृत्तिमात्रमस्ति। विषयसान्निध्ये सति तदुत्पद्यते। तदभावे च विलीयते। नित्यं ज्ञानं ततो नितान्तं भिन्नम्। तत् सर्वथैव स्वसत्तां निदधाति। आत्मन इदं वैशिष्ट्यं बोधयितुम् आचार्यशङ्कर आह—दृष्टिर्द्विविधा भवति। नेत्रदृष्टिरात्मदृष्टिश्च। नेत्रदृष्टिर्भवति न नित्या। आत्मदृष्टिरस्ति नित्या। अतः श्रुतिरात्मदृष्टिं 'द्रष्टृ' इति किं वा आत्मानं द्रष्टा इति गायति। आत्मानात्मविवेकेऽपि—'दृश्यं सर्वमनात्मा स्याद् दृगेवात्मविवेकिनः।' लोकेऽपि आत्मदृष्टेर्नित्यत्वं प्रमाणगम्यम्। अन्धोऽपि—'मया स्वप्ने माता दृष्टा' इति कथयन् श्रुतो भवति। एवमेव बधिरोऽपि 'मया स्वप्ने वेद-मन्त्रः श्रुतः' इति वदन् प्राप्तो भवति। अतः वेदान्तदर्शने आत्मनो ज्ञानस्वरूपतायां न संशयावकाशः।

६. अविद्या

अविद्या अज्ञानमिति पर्यायौ। इदं चाज्ञानं न ज्ञानाभावरूपमपितु भावरूपमिति शाङ्करवेदान्ते सयुक्तिप्रमाणं च सर्वत्र उद्घुष्यते। आचार्यशङ्करोऽविद्याऽज्ञानमायापदान्येकस्मिन्नेवार्थे प्रयुयोज। परं परवर्त्तिनो वेदान्तिनस्तत्र भेदं दर्शयन्तः

प्राप्यन्ते। 'अहमज्ञः' 'अहमिदं न जानामि' इत्यादिसर्वजनीनमनुभवं शङ्करानुयायिनः भावरूपाज्ञानसाधने प्रमाणयन्ति। एतादृशा अनुभवा हि ज्ञानाभावविषयका न संभवन्ति, अभावज्ञानस्य प्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वात् निराश्रयस्य चाभावज्ञानस्य अदर्शनात्। ततश्च यदि प्रतियोगिज्ञानमाश्रयज्ञानं च तत्र जागर्त्ति तर्हि ज्ञानाभाव एव नास्तीति कथं तत्प्रत्ययो भवेत्। यदि च नास्ति, तर्हि कारणाभावे कथमभावज्ञानमुत्पद्यते। सामान्यज्ञानमस्ति, विशेषज्ञानस्य स्वभावो गृह्यते, इत्याद्या युक्तिरपि न समीचीना, विशेषज्ञानाभावो यदि गृह्यते, तद् विशेषज्ञानमेव तत्प्रतियोगीति तेनैव कारणेन भवितव्यम्, इति तदभावे कथं विशेषज्ञानाभावप्रत्ययः स्यादित्यादि विस्तरेण तेषु तेषु ग्रन्थेषु प्रतिपादितम्। अविद्यां भावरूपान्तु सांख्ययोगाचार्या अपि व्याचक्षते परमन्यथा ज्ञानं तज्जनितः संस्कारो वा तेषां सिद्धान्ते अविद्यापदवाच्यः।

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।' योग-सूत्र।
'अविद्यानाऽभावोऽपि तु विद्याविरोधि ज्ञानान्तरम्॥' योगभाष्यम्।

अस्मिन् मते वासनारूपस्याविवेकस्य तमोवदावरकत्वं बुद्धिह्रासादिकं चाञ्जसैवोपपद्यते (सां० प्र० भाष्य) इत्याद्याचार्यवचोनिचयेन तथैव सिद्धेः क्वचित्तु सांख्ययोगयोरपि तथाविधाऽविद्यास्वीकारोक्तिः ध्वनिता। 'तस्य हेतुरविद्या' इति योगसूत्रं व्याचक्षाणैस्तद्भाष्यकृद्भिः अविद्याशब्देनाविद्याबीजं व्याख्यातम्। तस्यान्ततो वेदान्ताभिमताविद्यायामेव पर्यवसानं भवेदिति। सांख्यभाष्येऽपि च विज्ञानभिक्षुभिः—

अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मिणम्।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तं विद्यां च पञ्चविंशकम्॥

अत्र च प्रकृतिपदवाच्यस्याव्यक्तस्यैव अविद्यापदवाच्यतां स्पष्टमाह। प्रकृतेस्तु सर्वमूलत्वे भावरूपत्वे च न कस्यापि विवादः। प्रकृतेरविद्याविषयत्वादविद्यात्वमिति व्याचक्षाणो विज्ञानभिक्षुस्तु प्रकृतिमपि विषयीकुर्वाणमज्ञानम् स्वीकुर्वन् स्पष्टं वेदान्तमते प्रविशतीव। श्रीशङ्कराचार्यपादावुपसेव्य तन्मुखादेवाधीतविद्याः श्रीपद्मपादाचार्याः मिथ्याज्ञानतत्संस्कारातिरिक्तामनिर्वचनीयामविद्यां स्फुटैरक्षरैरुररीकुर्वन्ति। पञ्चपादिकाविवरणेऽपि 'अध्यासस्य इयमविद्यैव भावात्मिका कारणं भवितुमर्हति नान्यद्' इत्युपक्रम्य विस्तरेणानादिभावरूपा अविद्या निरूपिता, तथैव ऋजुविवरणे, तत्त्वदीपने, वार्त्तिके च विस्तरेण अविद्यासाधनं कृतम्। तत्रैव जिज्ञासुभिः दर्शनीयम्। अथ सूत्रभाष्यकृद्भ्यामीदृश्यविद्या न स्वीकृतेति श्रीनागेशभट्टमहोदया वदन्ति—

'अविद्यानादिभावात्मा मता वाचस्पतेरिह'।

इत्यनेनात्र वाचस्पतेर्मतेप्यतेन सूत्रभाष्यकृतोर्भ्रमतत्संस्काररूपैवाविद्येति मतं सूचितम्।

पञ्चदशीकारो विद्यारण्यस्वामी मायां भावरूपां मन्यमानः सा ब्रह्माश्रिता तदभिन्ना चेत्यभिदधाति। एषैव ब्रह्मणि विविधं जगत् प्रपञ्चमुद्भावयति। परम्

अविद्या अभावात्मिका वर्त्तते। अस्ति सा केवलाज्ञानरूपा। तत्फलञ्चास्ति ब्रह्मणोऽनवगमनम्। माया शुद्धसत्त्वप्रधानास्ति। अविद्यास्ति मलिनसत्त्वप्रधाना। माया ईश्वरस्योपाधिरस्ति जीवस्य चाविद्या। यदा हि ब्रह्म मायायां प्रतिबिम्बितं जायते तदा तदेव 'ईश्वरः' इति, यदा च तदविद्यायां तदा तज्जीव इत्युच्यते। सदानन्दो 'माया' समष्टिगतज्ञानं, किञ्च अविद्यां व्यष्टिगतमज्ञानमिति नाम्ना व्यवहरति।

७. ब्रह्म

वेदान्तदर्शने निर्विकारा निरुपाधिका निर्विकल्पा च सत्ता 'ब्रह्म' इत्युच्यते। तच्च ब्रह्म निर्गुणसगुणभेदेन द्विविधम्। आचार्यशङ्करमतेनोपनिषदां प्रतिपाद्यो विषयो निर्गुणं ब्रह्म एव। सगुणं ब्रह्म तु जगदिव मायाविशिष्टम्। तद्धत्ते मायिकसत्ताम्। ब्रह्मणः परमार्थतां निर्णेतुं द्विविधं लक्षणं स्वीक्रियते। स्वरूपलक्षणं, तटस्थलक्षणञ्च। स्वरूपलक्षणं पदार्थस्य सत्यं पारमार्थिकं रूपं बोधयति, तटस्थलक्षणं कतिपयकालावस्थायि न, आगन्तुकान् गुणान् एव निर्दिशति। निर्विकल्पनिरुपाधिक-निर्विकारं ब्रह्म स्वरूपलक्षणेन लक्ष्यते। सविकल्पकं सोपाधिकं सविकारं च तत् तटस्थलक्षणेन विषयीक्रियते। भावोऽयं ब्रह्मणो यत् पारमार्थिकं रूपमस्ति तत् तस्य स्वरूपलक्षणमस्ति। यच्च ब्रह्मण उत्पत्तिस्थितिलयविधायकं हि अपारमार्थिकं रूपमस्ति तत् तस्य तटस्थलक्षणमस्ति। लौकिकोदाहरणेनेदं स्पष्टीभवितुं शक्यम् चेत् कश्चित् रामनामधेयो ब्राह्मणो नाटके श्यामरूपं परिगृह्य मञ्चे समागत्य अनुकार्यं कृष्णमनुकरोति तदा स अनुकर्त्ता यदि 'कृष्णोयं' इत्यनेन प्रकारेणावबोध्यते तदा तद्विधावबोधनं तटस्थलक्षणमस्ति यदि च नायं कृष्णः अपितु ब्राह्मणो रामः इत्येतेन प्रकारेणाभिज्ञाप्यते तदा तद्विधावज्ञापनं स्वरूपलक्षणमिति कथितं भवति। एतेन स्फुटं भवति यद् निर्गुणं ब्रह्म एव पारमार्थिकं सत्। तदेव सदैवावशिष्यते। तस्मिन्नेव तत्सर्वं भाति यत् तद्रूपेणावभासते।

'सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्' इत्येतानि पदानि हि एकविभक्तिकत्वात् ब्रह्मणो विशेषणत्वेन प्रतीयन्ते। परं न तानि तथाविधानि, तानि तु ब्रह्मणः स्वरूपं लक्षयन्ति तस्मात् तानि लक्षणभूतानि सन्ति न च विशेषणभूतानि। ब्रह्मण एकत्वाद् अद्वितीयत्वाच्च तस्मिन् तेषां लक्षणत्वमेव घटते न च विशेषणत्वम्। ब्रह्म कदापि स्वकीयान्निश्चितात् रूपान्न व्यभिचरितं भवति, तस्मात् 'तत् सत्यमिति' चिद्रूपत्वात् तत् ज्ञानमिति, न कस्माद् अपि प्रविभक्तं भवति तदतः 'अनन्तम्' इत्युक्तम्। यदि ब्रह्मज्ञानस्य कर्तृत्वेन मतं स्यात् तदा ज्ञेयज्ञानाभ्यां तस्य विभजनमपेक्ष्येत। परं ज्ञानप्रक्रियायां ज्ञातृज्ञानज्ञेयतास्ति अन्तर्भूतैव। ज्ञानमेवावस्थाविशेषवशात् ज्ञातृताम् ज्ञेयताञ्च वहति। तस्मादनन्तत्वात् ब्रह्म ज्ञानमेव न च ज्ञानस्य कर्तृ तत्। तथाविधत्वादेव ब्रह्म जगतः कारणत्वात् ज्ञानस्वरूपत्वात् पदार्थान्तरत्वाच्च नाविभक्तम्। अस्ति तद्धि सत् चित् आनन्दरूपं च। तदेव ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणञ्च ज्ञेयम्। शङ्करमतेन ब्रह्म सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्यम्।

८. मोक्षः

दुःखस्यात्यन्तकीं निवृत्तिं मोक्षं मन्यन्ते नैयायिकाः। 'दुःखानि हि एकविंशति-संख्यकानि' इति ते वदन्ति। तद्यथा—शरीरम्, षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं, दुःखञ्च गौणमुख्यभेदात्। एतेभ्यः पूर्णतया मुक्त्यां सत्यां मोक्षः लभ्यते। तदात्मनो दुःखानामेव न सुखानामपि समाप्तिर्भवति। न ततः कीदृश्यप्यनुभूतिरवशिष्यते। मुक्त आत्मा सुखदुःखेभ्यः परस्तात् भवन् एकान्ततः अचेतनः सञ्जायते। एष च मोक्षः श्रवणमनननिदिध्यासनोपायावलम्बनेन प्राप्यो जायते। नैयायिकानामपवर्गो यदि सुखरहितस्तदा वेदान्तिनां च सुखपूर्णः।

वेदान्तदर्शनमते—मानवजीवनस्योत्कृष्टतमः पुरुषार्थो मोक्षो मतः। मनुष्य-जीवनमवाप्यापि मोक्षार्थं यो न यतते स आत्महा—

यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः।
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्ति असद्ग्रहात्॥

मोक्षो हि ज्ञानेनोपलभ्यते न च कर्मणा। कर्मफलोत्पादकत्वाद्धेयमस्ति अविद्या कामस्य कारणम्। कामश्चासक्तिद्वेषयोः। फलोत्पादकत्वात् एषां सर्वेषां त्यागः इष्टः। कर्माणि कामं शुभानि स्युर्वा अशुभानि सर्वाण्यपि फलानि प्रसुवते। यदा विद्याग्निना कर्मबीजानि दह्यन्ते तदा मोक्षः अधिगम्यते। शङ्कराचार्यो ब्रवीति 'ज्ञानं विना न मोक्षः'। ज्ञानमेव परब्रह्म।

उक्तञ्च—

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥

वेदान्तस्य सुदृढं मतमिदम्—यन्मुक्तिर्ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव भवितुमर्हति। तथा हि पञ्चदश्याम्—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा॥

९. आत्मब्रह्मणोरैक्यम्

ननु जीववदन्तःकरणाभावेन ब्रह्मणो ज्ञातृत्वासंभवेन कुतः सर्वज्ञत्वमथवाऽऽत्म-ब्रह्मणोरैक्यमिति चेन्न, सर्ववस्तुविषयकसर्वप्राणिबुद्धिसंस्कारोपरक्तमायोपाधिकत्वेन सर्वज्ञत्वमात्मब्रह्मणोरैक्यसिद्धौ बाधानापत्तेः। अपि च—'तत्त्वमसि' इत्येतन्महा-वाक्यं यद्यपि आत्मब्रह्मणोरैक्यं प्रतिपादयदवलोक्यते, परं क्लेशकर्मादिबद्धोपाधि-विशिष्टजीवस्य निरुपाधिकशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मणा सहैक्यं केन विधिना सम्भ-वमित्येतां शङ्कां समाधातुं वेदान्तविदो वदन्ति यदभिधया यस्य वाक्यस्य यथार्थ-बोधासम्भवात्लक्षणाङ्गीक्रियते। अत्र हि जहदजहल्लक्षणया यथार्थोवगम्यते। 'तत् त्वम्' इत्येतयोर्मध्ये विद्यमानपरोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टांशौ परस्परविरुद्धौ। परिहरन्तीयं लक्षणा अखण्डचैतन्यांशञ्च परिगृह्णन्ती तयोरैक्यमुपपादयति—

सामान्याधिकरण्यं च विशेषणविशेषता।
लक्ष्यलक्षणसंबन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥

इति कथयन्ती नैष्कर्म्यसिद्धिराहात्र—सम्बन्धत्रयसाहाय्येन महावाक्यमखण्डार्थमवबोधयति। पञ्चदशीकारश्च ब्रूते–नास्य महावाक्यस्य अर्थः संसर्गो न च विशेषोऽपि तु अखण्डैकरसचैतन्यमेवास्ति—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥

वेदान्तो हि मानवीयमेधाकृतचिन्तनस्य पराकाष्ठा। तदीय एकत्ववादो वस्तुतः सर्वानपि वादान् अध्यात्मविषयकान् जयति।

वाचस्पतिमिश्रास्तु—यद्यपि ब्रह्मस्वरूपचैतन्यमेव स्वसंसृष्टसर्वावभासकम्, तस्य च स्वरूपेण अकार्यत्वेऽपि दृश्यावच्छिन्नरूपेण ब्रह्मकार्यत्वेन ज्ञानकर्तृत्वश्रुतेरपि न विरोध इत्याहुः।

'जीवाश्रया ब्रह्मपदा अविद्या तत्त्वविन्मता' इति हि प्रसिद्धम्। वाचस्पतिमते–जीवाश्रयाया ब्रह्मविषयाया अविद्याया विषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपञ्चाकारेण विवर्त्तमानतयोपादानम्, माया तु सहकारिमात्रम्, ब्रह्मणोऽविद्याविषयत्वे सत्यपि सर्वज्ञस्य तस्याविद्याश्रयत्वायोगः। 'मूढोऽहं त्वां कथं जाने मोहितस्तव मायया' इत्यादौ मोहितविषयत्वेन दुर्ज्ञेयमाहात्म्यातिशयत्वं भगवत उच्यते। मोहाश्रयत्वेन मूढत्वापत्तिर्भगवति प्रसज्यतेति वाचस्पतिमतमेव भक्तिनमिति श्रद्धानुकूलम्।

वाचस्पतिमतरीत्या तु पूर्वपूर्वाध्यासव्यक्तीनामुत्तरोत्तराध्यासहेतुत्वेनानादिसिद्धेऽध्यासात्मके तमसि प्राथम्यायोग इति न तदनुपपत्तिः। न च 'मायिनं तु महेश्वरम्' इति श्रुतिविरोधः, गृहीधनी देवदत्त इत्यादौ देवदत्तस्य गृहाद्याश्रयत्वाभावेऽपि प्रत्ययस्य स्वस्वामिभावलक्षणसम्बन्धान्तरबोधकत्ववन्महेश्वरस्य मायाश्रयत्वाभावेऽपि मायाब्रह्मणोर्विषयविषयिभावलक्षणसम्बन्धान्तरबोधकतया मायिश्रुत्युपपत्तेः।

यथा शुक्तिरजतादेः पुरुषाश्रिताज्ञानविषयीकृतशुक्त्यवच्छिन्नब्रह्मचैतन्यविवर्तत्वं तथैव जगतो जीवाश्रिताज्ञानविषयीकृतब्रह्मविवर्त्तत्वमिति सुसंगतोऽयं पक्षः।

१०. साधनचतुष्टयम्

आचार्यशङ्करमतेनात्मानात्मविवेकविषयकविचारे साधनसम्पन्नपुरुषस्य प्रवेशो भवति। शाङ्करवेदान्तमते साधनचतुष्टयसम्पन्नपुरुष एवाधिकारी भवति। साधनचतुष्टयं नाम—नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इहामुत्र फलभोगविरागः, शमादिषट्सम्पत्तिः, मुमुक्षुत्वञ्चेति। किञ्च, सांख्ययोगमतेन मुक्तेः कृते 'प्रज्ञाया' अपेक्षा भवति। आत्मा मनःशरीराभ्यां भिन्नः, 'स नित्यः शुद्धो बद्धो मुक्तश्चैतन' इत्येतस्य सत्यस्य दर्शनं यया दृष्ट्या भवति सैव प्रज्ञेति बुधैः प्रोक्ता। एतस्यादित्य-

इष्टे रूपलब्ध्यै चित्तेन निर्विकारेण शुद्धेन शान्तेन भवितव्यम्। निर्विकारत्वादि-हेतोः योगदर्शनमष्टसाधनानि निदधाति। तानीमानि—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयः।'

तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहभेदेन यमः पञ्चविधः, नियमश्च–शौच-सन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानभेदेन पञ्चधा। साधनायै यत् सुखमनुकूलं तदा-सनमिति कथितम्। आसनं स्वस्तिकासनसिद्धासनपद्मासनादिभेदैर्बहुविधम्। श्वासप्रश्वासगतिनिरोधः प्राणायाम इति प्रोच्यते। पतञ्जलिमतेन प्राणायामात् अज्ञानावरणं क्षीयते मनश्च स्थिरं भवति। इन्द्रियाणि विषयेभ्यो विमुखानि भूत्वा येनान्तर्मुखाणि भवन्ति स प्रत्याहार इति गद्यते। एतानि यमनियमासनप्राणा-यामप्रत्याहारा बहिरङ्गानि साधनानि सन्ति। धारणाध्यानसमाधयश्चान्तरङ्गानि। चित्तस्याभीष्टविषये सन्निवेशनं धारणेति कथ्यते। परं वृत्तिमात्रसहितचित्तस्य नाभिनासिकाग्रभागचन्द्रादिध्येये निबन्धनमपेक्ष्यते। ध्येयस्यानारतं चिन्तनं ध्यानमिति आम्नातम्। समाधेर्लक्षणमेवमाह–तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। धारणाध्यानसमाधय इत्येषा त्रिकं 'संयम' इत्येतया संज्ञया प्रसिद्धम्।

११. समाधिः

यदा चित्तं सर्वेभ्योऽपि बाह्येभ्यः आभ्यन्तरेभ्यश्च विषयेभ्यो दूरीभवति तदा सा स्थितिः असम्प्रज्ञातसमाधिनाम्ना गीयते। समाधिः योगस्या-न्तिमं सोपानम्। इमं सम्प्रज्ञातसमाधिं प्रपन्नो योगी मुक्तो भवति। न च संसारस्तदर्थं बन्धनं भवति। एतस्यामवस्थायां हि आत्मा मुक्ता-वस्थाजनितं प्रकाशमनुभवति। आनन्दमयो जायते सः। अस्यान्तिमस्य लक्ष्य-स्याधिगतिः चिरसाधनायाः कठिनस्य च योगाभ्यासस्यानन्तरं भगवदनुग्रहेण भवति, ईश्वरप्रणिधानादेव सिद्ध्यति च। तस्मादीश्वरो हि महनीयं स्थानमधि-तिष्ठति। ईश्वरप्रणिधानान्वितयोगाङ्गानामनुष्ठानेन निष्प्रत्यूहमाश्वेव समाधेः सिद्धत्वादीश्वरस्य महत्तां नितरामेव स्फुटभावेन योगसूत्रमुद्घोषयति—'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्चेति।' महर्षिः पतञ्जलिर्मानवजीवनस्याग्रे ईश्वरस्योपस्थानं मानवीयजीवनं प्रति महत्त्वमन्यमानस्तस्य प्रविधानं चित्तवृत्तेर्निरो-धनकारिणां साधनानां मध्ये परमोल्लेखनीयं साधनं शंसन् ईश्वरस्य स्वरूपञ्च— 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' प्रतिपादितवान्।

१२. जीवात्मा

अद्वैतवेदान्तदर्शनस्य—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।' इत्येव सिद्धान्त इत्यत्र न केषामपि विमतिः। तत्राऽपि व्यवहारे जीवेश्वरयोर्भेदस्योप-लभ्यमानत्वेन कस्तावज्जीवाकारः, कथं वा तस्याद्वितीयस्यापि भेद इति व्यवहार-प्रतीयमानस्य भेदस्य निरूपणाय तस्य मिथ्यात्वानुज्ञापनाय च प्रवृत्तेषु बहुष्वा-चार्यपादेषु सुरेश्वराचार्याः वार्त्तिककारनाम्ना प्रसिद्धाः, विवरणकाराः, आचार्य-वाचस्पतिमिश्राः, संक्षेपशारीरकाचार्याश्च प्राथम्येन संकेतमर्हन्ति।

तत्र जीवस्वरूपविषये वार्त्तिककृतः प्राहुः—अनाद्यविद्याजन्याध्यासद्वारेण निरञ्जनोऽप्यात्माऽहंकारोपहितः अहंकारतादात्म्यविशिष्टतया प्रतीयमानः अहंकारगतस्वाभासाविवेकेन जीवपदवाच्य इति। अहंकारस्य च नानात्वेन जीवानामपि नानात्वमेव। न च प्रसुप्तौ अहंकारस्यासत्त्वाज्जीवाभावस्तदानीं शङ्कयः, संस्काररूपेण सुषुप्तावपि तत्सत्वात्। तदुक्तं न्यायरत्नावलीकृता—सुषुप्तावपि संस्काररूपेणाहङ्कारसत्त्वाज्जीवसत्त्वमिति।

विवरणकृतस्तु—बिम्बस्यैव प्रतिबिम्बव्यवहारतत्फलप्रकार्यसम्भवान्नातिरिक्ताभासकल्पनं गौरवमुक्तमिति कृत्वानाभासवादो युक्तः, अपितु स्थूलसूक्ष्मान्यतरावस्थबुद्धिविशिष्टाज्ञानान्तर्गतत्त्वारोपितधर्मविशिष्टं चैतन्यं प्रतिबिम्बतया प्रतीयमानजीवः।

संक्षेपशारीरककृतस्तु—'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति श्रुतिं समाश्रित्य बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्य जीव इति व्याचक्षते।

अत एव सिद्धान्तबिन्दौ 'अज्ञानाश्रयीभूतं च चैतन्यम् जीव' इति वाचस्पतिमिश्राः। इत्युक्तम्। मधुसूदनेन वृत्तिरावणभङ्गार्था चिदुपरागार्था वेति पक्षे अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्यैव जीवपदाभिधेयत्वे जीवस्याविभुत्वेन आविद्यकवस्तुसम्बन्धाभावात् प्रमातृचैतन्योपरागार्था विषयचैतन्यावरणाभिभवार्था च वृत्तिरित्युक्त्वा अविद्यावच्छिन्नस्यैव जीवत्वे जीवस्य विभुत्वेन सर्वसम्बद्धत्वात् विषयसम्बद्धावरणभङ्गमात्रायैव वृत्तिरित्युक्तम्। वाचस्पतिमते चाज्ञानानां नानात्वेन, प्रतिजीवञ्च जीवोपादानप्रपञ्चस्यापि भिन्नत्वेन एकस्यापि जीवस्य स्वप्रपञ्चगतसर्ववस्तुसम्बन्धसत्त्वेनावरणभंगायैव केवलं वृत्तिरिति तस्य स्फुटमविद्यावच्छिन्नत्वम्, अन्यथा हि जीवस्याविभुत्वापत्तिः स्यात्, सा चायुक्ता अविद्यायाः प्रतिजीवं भिन्नत्वस्य मिश्रोक्तत्वात्। उक्तञ्चाद्वैतसिद्धौ नाना-अज्ञानपक्षेऽपि एकस्य जीवस्यैकाज्ञानोपाधित्वादिति। अत एव चाविद्यावच्छिन्नानवच्छिन्नावेव जीवेशावित्ययमेवे पक्षोऽवच्छेदवाद इति बिन्दुव्याख्यायां यतयः। अत एव न जीवः आत्मनोऽन्यः नापि तद्विकारः किन्तु आत्मैव, अविद्योपाधानकल्पितावच्छेदः। अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानाश्रयीभूतश्च जीव इति वाचस्पतिमिश्रस्य सिद्धान्तः। यतः—

> घटसंवृतमाकाशं नीयमाने यथा घटे।
> घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः॥

तथाच जीवमधिकृत्य आचार्यशङ्कर आह—अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धीति। जीवात्मास्ति नित्यः शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपः। चैतन्यं तदीयः कादाचित्को गुणः। परब्रह्मण एवोपाधियोगेन जीवे विद्यमानत्वात्। एतेन वैशेषिकदर्शनस्येदं मतं प्रत्याख्याति यच्चैतन्यन्तु आत्मनः कादाचित्को गुण इति। परब्रह्मणो विभुत्वात् वेदान्त आत्मानमपि विभुत्वेनैवाङ्गीकुरुते। तस्य कथनं यत् अत्यन्तसूक्ष्मत्वादेव स अणुरिति मतः। जीवस्य त्रीणि शरीराणि सन्ति स्थूलसूक्ष्मकारणभेदात्।

इदं हि सर्वत्र दृश्यते यत् व्यष्ट्यां वस्तु यन्नाम्ना व्यवह्रियते न तन्नाम्ना समष्ट्यां, यथा व्यष्ट्यां वृक्षो नाम वस्तु वृक्ष इति निगद्यते, परं समष्ट्यां स एव वनमिति कथ्यते। एवमेवआत्माऽपि व्यष्ट्यां यन्नाम भजते न तन्नाम स समष्ट्याम्। व्यष्ट्यां आत्मा 'जीव' इति कथ्यते स एव समष्ट्यां हि 'ईश्वरः' इति कथ्यते। अवस्था शरीरकोषाश्चेश्वरस्य त एव भवन्ति ये जीवस्य।

जीवस्य वृत्तयः उभयमुख्यो भवन्ति। बहिर्मुख्यस्ता विषयान् प्रकाशयन्ति, अन्तर्मुख्यश्च ता 'अहम्' इत्येतद्भावमभिव्यञ्जयन्ति। यथा रङ्गस्थले स्थितो दीपः सूत्रधारं सभ्यान्, नर्तकीञ्च समभावेन प्रकाशयति तदभावे च स्वतः प्रकाशते तथैवात्मा अहंकारविषयबुद्धिमवभासयति तदभावे च स्वयमेव प्रद्योतते। चाञ्चल्यं बुद्ध्यां भवति। बुद्धियुक्तत्वात् जीवः चञ्चलः प्रतीयते वस्तुतः स शान्तः अस्ति।

१३. मनः

सुखादिविषयकज्ञाननिरूपितकारणताश्रयत्वं मनसो लक्षणम्। सुखादिविषयकं यज्ज्ञानं 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्याकारकं ज्ञानम्, तन्निरूपितकारणत्वस्य मनसि सत्त्वात्। अर्थात् आत्मज्ञानेच्छा-सुखदुःखादिकं येनाभ्यन्तरेण साधनेन प्रत्यक्षं भवति तन्मन इति कथ्यते। उक्तञ्च—'सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। प्रतिशरीरं भिन्नत्वात् अनेकम्, क्रियाकारित्वात् मूर्त्तमणु च मतं तत्। तस्याणुत्वमधिकृत्य भाषापरिच्छेदे प्रोक्तम्—

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।
अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते॥

मनो विभु न। एकस्मिन् काले एकस्यैव विषयस्य ग्राह्यत्वात्।

१४. माया

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्यात्रिगुणात्मिका या।
कर्मानुमेया सुधियैव माया, माया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते॥

जीवाश्रयाया ब्रह्मविषयायाः अविद्याया विषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याकारेण प्रपञ्चाकारेण विवर्त्तमानतयोपादानम्, माया तु सहकारिमात्रम्। ब्रह्मणोऽविद्याविषयत्वे सत्यपि सर्वज्ञस्य तस्याविद्याश्रयत्वायोगः। "मूढोहं त्वां कथं जाने मोहितस्तव मायया" इत्यादौ मोहविषयत्वेन दुर्ज्ञेयमाहात्म्यातिशयत्वं भगवत उच्यते। मोहाश्रयत्वेन मूढत्वापत्तिर्भगवति प्रसज्येति उचितम्।

वेदान्तदर्शने तु मायातत्त्वं स्पष्टरूपेण वर्णितमस्ति। निर्विशेषनिर्लक्षणब्रह्मणः सविशेषं सलक्षणं जगत् कथमुदपद्यत कथञ्च तस्मादेकस्मात् ब्रह्मणो नानाविधं जगदिदं सृष्टमभूदित्येतद्विधः प्रश्नो मायातत्त्वावबोधमन्तरा न समाहितो भवितुमर्हति। अतस्तदवबोधनमपेक्ष्यते। आचार्यशङ्करो ब्रूते यद् माया भगवतो ब्रह्मणोऽव्यक्तशक्तिरस्ति। सास्ति त्रिगुणा अविद्यारूपणी। न तदीय आदिर्ज्ञायते।

शब्दार्थोभयसंस्काररूपाया अविद्याया आविर्भावात् प्राग् बिन्दुरूपमव्यक्तं, त्रिगुणं शक्तितत्त्वम्. ततोऽपि प्राक् च सर्वादौ या माया आविर्भूतोक्ता, सैव शाङ्कर-दर्शने श्रीशङ्कराचार्यः श्रीवाचस्पतिप्रभृतिभिश्च मूलाऽविद्येत्युच्यते। 'माया चेतने ईश्वरे लीयते' लयोऽयं नात्यन्तिको विनाशः, उत्तरसर्गानुपपत्तेः नापि सर्वथा अभानम्, प्रतिभासमात्रशरीरस्य वस्तुनोऽनवभासे तदभावस्यैवापत्तेः" इत्यनेन ग्रन्थेन मायायाः प्रतिभासमात्रशरीरत्वमुक्त्वा अनिर्वचनीयताऽपि स्फुटमङ्गीकृता। अग्रे तु अविद्याऽपरपर्यायाया अनिर्वचनीयमायाया अनिर्वचनीयपदार्थोत्पत्तेश्च स्फुटं खण्डनमिति सिद्धान्तव्यामोहो वा पूर्वापरविरोधानभिसंधानं वेति। एवं पुराणेष्वपि सर्वत्र निर्गुणादपरिणामिनो ब्रह्मणः कथं सृष्टिरिति प्रश्नमुद्भाव्य—

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्याज्ञानगोचराः' इत्यादिना ब्रह्मणि मायाशक्ति-सद्भावः सर्वत्रैवोररीकृतः।

आचार्यशङ्करोऽविद्याऽज्ञानमायापदान्येकस्मिन् एवार्थे प्रयुयोज परं, परवर्तिनो-वेदान्तिनस्तत्र भेदं दर्शयन्तः प्राप्यन्ते। पञ्चदशीकारो विद्यारण्यस्वामी मायां भावरूपां मन्यमानः सा ब्रह्माश्रिता तदभिन्ना चेत्यभिदधाति। एषैव ब्रह्मणि विविधं जगत् प्रपञ्चमुद्भावयति। परम् अविद्या अभावात्मिका वर्त्तते। अस्ति सा केवला-ज्ञानरूपा। तत्फलं चास्ति ब्रह्मणोऽनवगमनम्। माया शुद्धसत्त्वप्रधानास्ति। अविद्या-अस्ति मलिनसत्त्वप्रधाना। माया ईश्वरस्योपाधिरस्ति जीवस्य च अविद्या। यदा हि ब्रह्म मायायां प्रतिबिम्बितं जायते तदा तदेव 'ईश्वर' इति, यदा च तदविद्यायां तदा तज्जीव उच्यते। सदानन्दो 'माया' समष्टिगताज्ञानं किञ्च अविद्यां व्यष्टिगत-मज्ञानमिति नाम्ना व्यवहरति।

१५. ईश्वरः

निर्विशेषं ब्रह्म मायावच्छिन्नं यदा सञ्जायते तदा तत् सगुणभावं बिभर्त्ति। सगुणावस्थायां तद् 'ईश्वर' इति प्रोच्यते। ईश्वरस्य जगत्कारणत्वेन सर्वज्ञत्वं स्वसंसृष्टसर्वावभासकत्वेनैव। नच ईश्वरासिद्धिः 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादिश्रुति-भिर्जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वात् तस्यैव चेश्वरत्वात्। नच ज्ञानस्यापि कार्यत्वेन तत्रापि ज्ञानान्तरापेक्षायां तदवस्थैवानवस्थेति वाच्यम्, ज्ञानस्य ब्रह्मणः स्वरूपत्वेनाकार्यत्वात्। तथा च निखिलप्रपञ्चरचयितृत्वेन आर्थिक-मीश्वरस्य सार्वज्ञ्यम्। हेतुसमवधायकत्वेनापीश्वरसिद्धिः संभवत्येव। यतो हि सृष्टिस्थितिलयकारणमीश्वरोऽस्ति। सर्वकामः सर्वज्ञः सन्नपि स लीलायै सृष्टि-व्यापारे प्रवर्त्तते। भूतभौतिकानि स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकिर्षाकृति-मज्जन्यानि, कार्यत्वे सति विलक्षणत्वात् शय्याप्रासादिवत् इत्यादिभिरनुमानैश्च जगत्प्रकृतेः परमेशितुः सार्वज्ञ्यावगमः सुगमः।

ईश्वरो जगत उपादानकारणम् निमित्तकारणञ्चास्ति इति वेदान्तदर्शनस्य सिद्धान्तः। न्यायदर्शनस्य सिद्धान्ते 'ईश्वरः' केवलं निमित्तकारणम् अस्ति।

यत्तूक्तं—सर्वज्ञपूर्वकत्वं भूतभौतिकस्य न सिद्ध्यति तेन हेतोर्व्याप्त्य-सिद्धेर्दृष्टान्तस्य च साध्यवैकल्यात् शय्याप्रासादादौ कार्यत्वस्यासर्वज्ञपूर्वकत्वेनैव व्याप्त्युपलब्धेश्च। न च ज्ञानवत्पूर्वकत्वमात्रं साधनविषयस्तद्विशेषस्य च सर्वज्ञ-पूर्वकत्वादिति तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, साधनाव्याप्तस्य विशेषस्यैव सामान्यस्य-पक्षधर्मतावशेन सिद्धेर्निष्प्रत्यूहत्वात्। अत एव क्रियात्वसामान्यस्य करणमात्राधीन-व्याप्तत्वेऽपि पक्षधर्मतावशात् चेन्द्रियकरणविशेषसिद्धिर्भवति। अत एव न दृष्टि-सालक्षण्यस्यैव साध्यस्य सिद्धिरुक्तेन्द्रियानुमाने दृष्टविलक्षणसाध्यसिद्धेरिष्टत्वात्।

ईश्वरस्य जगत उपादानकारणत्वेन जगतो भोग्यत्वे आत्मनश्च भोक्तृत्वे न क्वापि ह्यसंगतिरापतति मृद्घटयोर्मध्य ऐक्ये सत्यपि तत्र व्यावहारिको भेदोऽस्त्ये-वैवमेव ब्रह्मजगतोऽभिन्नत्वे सत्यपि तत्र व्यावहारिको भेदोऽवश्यमेवेत्याचार्यः स्वभाष्ये अभिदधाति।

इति श्रीजगदीशचन्द्रमिश्रविरचितं विशेषविवरणं समाप्तम्।

——>o<——